प्रकाशक
जिला हिन्दी साहित्य-सम्मेलन
शाहाबाद

प्रथम संस्करण
१९४२ ई०
मूल्य १।)

मुद्रक
श्रीपतराय
सरस्वती-प्रेस,
बनारस।

समर्पण

एक आवश्यक कार्य से कलकत्ता गया हुआ था। धर्मतल्ला के चौराहे पर फरपूहोटल के सामने एक धनिक मित्र के आने की प्रतीक्षा में घण्टों से खड़ा था। टूटा पाँव थककर पीड़ा दे रहा था, कण्ठ प्यास से सूखा जा रहा था और प्रतीक्षा करते-करते मन भी ऊबने लगा था। मन में होता—फरपू के साफ़-सुथरे चबूतरे पर ही बैठकर सुस्ता लें, पर सभ्यता का दम्भ तुरत यह कहकर मना कर देता कि कोई जान-पहचान का आदमी देख लेगा तो नाक कट जायगी। जेठ की दुपहरी, तिस पर बिना भोजन किये एक बजे तक प्रतीक्षा करना, जी रह-रहकर खीझ उठता; पर गरज वश ठहरना आवश्यक हो जाता। खड़ा-खड़ा सामने देखता कि मोटरें आतीं, रुकतीं, सजे-सजाये नर-नारी उनसे निकलकर होटल में जाते और तर वो ताजा होकर बाहर निकल आते। मन में होता मैं भी कुछ खा लूँ, पर पास में उस समय उतने पैसे न होने के कारण जी मसोसकर रह जाता; फिर मित्र की प्रतीक्षा करने के लिये शिष्टता ऊपर से समझाती। मन में लाखों तरह

के विचार उठते—धनी गरीब की समस्या, सबल द्वारा निर्बल की लूट-खसोट, समाज, सरकार तथा कॉंग्रेस अपने में उलझा-उलझा कर विचार-धारा को कहाँ से क़हाँ बहा ले जातीं।

ठीक इसी समय, देखा कि सामने की विशालकाय सड़क के उस पार से, जहाँ अच्छे मनुष्यों को भी इधर से उधर जाना कठिन हो रहा था, एक पंगु घसीटता हुआ इस पार आ रहा है। मेरी आँखें ध्यानपूर्वक उसे देखने लगीं। वह पंगु ही नहीं बल्कि कूबड़ा भी था। पीठ उसकी निकली हुई, छोटी गरदन कन्धे से सटी हुई, पाँव दोनों लुञ्ज, सूखे से सिकुड़े हुये थे। उसके सारे शरीर में यदि काम करने योग्य कोई अवयव थे तो उसकी वे दोनो भुजायें जो अपनी ही नहीं बल्कि पाँव की भी क्रिया सम्पादन करने के एक मात्र साधन थीं। उसके दोनों हाथ में दो खड़ाऊँ थीं, जिनको ही सामने रखकर वह बाह और कमर के सहारे अपने लुञ्ज शरीर को आगे की ओर घसीटकर चलता था। उस जेठ की दुपहरी में उस तपती हुई तारकोल की सड़क पर वह धीरे-धीरे घसीटता हुआ फरपू की ओर चला आ रहा था। शरीर उसका नग्न था। सारे बदन भर में एक चीथड़ा भी कहीं था नहीं। केवल चार अँगुल की फटी कोपीन रस्सी की करधनी के सहारे उसकी तथाकथित लज्जा को ढापे हुये थी। इस दृश्य से सहसा मुझे समाज के निर्दय और कठोर शासन का स्मरण हो आया, जो इस अवस्था में भी उस गरीब से अपने नियमों के पालन करने

का स्वांग भरा रहा था। वह जेठ की दुपहरी, वह कड़ाके की धूप, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर की लिपटी हुई वह धूलि, उसके विखरे केश में सटे हुए वे मलिन दुर्गन्ध पदार्थ, उसके चेहरे पर खेलती हुई वह वेदना—वह साहस, वह सन्तोष, और वह वेबसी, तथा करुणा-मिश्रित जब्त आज भी हृदय की करुणा को जाग्रत कर देती हैं। उसके केश हवा में उड़ रहे थे, पसीना से शरीर भींग रहा था, तप्त सड़क के पिघले हुए तारकोल रह-रहकर जब उसके शरीर से सट जाते तव वह नरक की वेदना से चौंक पड़ता और एक हाथ से उसे छुड़ाता तथा दूसरे हाथ से उस स्थान को जरा सा मलकर पुनः थकी और निराश आकृति से आगे वढ़ता। उसकी उमर तीस की होगी। जवानी का वसन्त कभी उस शरीर में आया था या नहीं यह कौन जाने! करीना नाही का था। शायद वह आजन्म लुञ्ज था। उसके पास क्वेकरओट का एक खाली डब्बा था जो ही उसकी सारी सम्पत्ति था। दूसरी सम्पत्ति कमर की रस्सी और लज्जा ढकने की कोपीन शायद कही जा सकती थी। उस ढब्बे को पहले वह हाथ की पहुँच की दूरी पर आगे वढ़ाकर रख देता और फिर वगल में रखी हुई खड़ाऊँ को टेककर शरीर को कुछ ऊपर उठाता और आगे की ओर घसीटता। इसी तरह वह फरपू होटल की ओर वढ़ता चला आ रहा था। एक वार घसीटने के वाद वह रुक जाता, टुक सुसताने की मुद्रा में आँखों को यात्रियों की ओर शायद इस विचार से घुमाता

कि कोई उसकी ओर देख रहा है या नहीं, अथवा किसी के हृदय में उसकी इस दीनावस्था ने सहानुभूति उत्पन्न की है या नहीं। भिखमंगे संसार की अन्य कोमल कलाओं में भले ही दक्ष न हों, किन्तु नज़र पहचानने और हृदय द्रवित करने की कला में उनका सानी दूसरा नहीं। सड़क के उसी पार से उसने मुझे देख लिया था और मेरे हृदय की बातों को भी शायद समझ चुका था। वह सीधे मेरी ओर बढ़ता चला आया। स्यात उसने अपनी गति भी इस भय से तेज कर दी थी कि कहीं मैं चला न जाऊँ। ज्यों-ज्यों वह निकट पहुँच रहा था और ज्यों-ज्यों मेरी और उसकी आँखें चार होती जातीं थीं त्यों-त्यों उसके मुख पर की उस मलिनता और क्षीणता में ही प्रसन्नता ऐसी कोई चीज़ मुझे नज़र आ रही थी। जब वह समीप आ गया और थक जाने के कारण बोल न सकने की अवस्था में अपना दाहिना हाथ उठाकर अपने पेट की ओर दीन सजल नेत्रों से सङ्केत किया तो मैं सम्भवतः उस समय अपने में नहीं था। मेरे हाथ बलात् पाकेट में गये और जो कुछ वहाँ पाये उसे लेकर उस कंकाल रूप मानव-जीव के हाथों पर रख दिये। उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू आ गये और कण्ठ बन्द-सा हो गया। उसने कुछ कहा नहीं, कुछ बोला नहीं, हाथ उठाकर भरी आँखों से मुझे आशीर्वाद दिया और सुसताने की मुद्रा में बरण्डे की शाया में लेट रहा। आँखें उसकी बन्द थीं, उनसे जल गिर रहे थे, और अँगुलिाँ उन रजत तथा ताम्र के

ठीकरों पर घूम रहीं थीं। मैं एक दो मिनटों तक वेसुध-सा बना खड़ा रहा ; इसके वाद मस्तिष्क की क्रिया चालू हुई और मैं स्वर्ग की दुनिया से उतरकर मृत्यु-लोक में चला आया। एक बार अपने सर पर खड़ी उन्नत अट्टालिकाओं को, फिर वैसे ही अन्य इमारतों को, फिर फरपू के सजे-सजाये कमरों को, और उनमें बैठे सभ्यों को देखा, और तव सवारी से भरी हुई उस चिकनी चुपड़ी काली सड़क को, सामने के हरे मैदान को, तथा सुदूर में खड़े फोर्ट विलियम और विक्टोरिया मेमोरियल को भी निहारा। और तव अपने सामने पड़े हुए उस नर कंकाल में चलती हुई साँस की वेवसी को तथा उसके पीठ से सटे हुए पेट की ज़लन और धूप से झुलसे शरीर की नग्नता को परखा।

आँखों ने कहा—'मैं रोऊँगी !' मैंने पूछा, 'किस पर ?' लेकिन विना इस प्रश्न का उत्तर दिये ही वे रो पड़ीं। और बाईं आँख ने जव आँसू के एक तप्त बूँद को पृथ्वी पर गिराकर चूर-चूर कर दिया तो दाहिनी ने उदार भाव से तुरत दूसरा मोती कोश से निकालकर कपोल पर लुढ़का दिया, तीसरी, चौथी और पाँचवीं बूँद गिराते-गिराते वे सोच रही थीं कि कहीं कोई देखता तो नहीं। एक-एक बूँद के पतन के साथ मेरे मुख से अनायास निकल रहा था—'भूखा ? भूख ? ज्वाला ? पेट भरा ? अन्तिम शव्द के कान तक पहुँचते-पहुँचते नेत्र के जल सूख गये थे, हृदय में करुणा के स्थान पर प्रतिशोध की अग्नि सुलग चुकी थी, और तव कला के मस्तिष्क

ने कहा 'अच्छा, भूख' 'ज्वाले', 'भूखे' और 'पेट भरे' तुम सब-के-सब मेरी लेखनी के गर्भ में आ गये। प्रसव कब होगा भगवान् जाने।'

प्रस्तुत पुस्तक उसी चिर-स्मरणीय, कंकाल स्वरूप, अधमरे, लुञ्ज और कूबड़े भिखमंगे के ठेलेदार हाथों में सप्रेम समर्पित है, जो समाज के दरिद्रनारायण का एक मात्र प्रतिनिधि ही भर नहीं था बल्कि इस 'भूख की ज्वाला' का आदि कारण भी था। काश इस समय वह सामने होता और मैं उसके हाथों में इसे प्रत्यक्ष देता होता और वह या उसका समुदाय इसके अर्थों को समझता होता।

दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह

दिलीपपुर

रात्रि दस बजे

१७-८-४०

आमुख

महाराज कुमार बाबू दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह एक यशस्वी लेखक हैं। आपने हिन्दी की अच्छी सेवा की है। आपकी पुस्तकों में एक अनोखापन होता है जो आपकी लेखनी की विशेषता समझी जानी चाहिये। आपकी प्रस्तुत पुस्तक 'भूख की ज्वाला' को हस्तलिखित अवस्था में ही अवलोकन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इस पुस्तक में आपने अपनी अनोखी शैली का विशेष रूप से परिचय दिया है। कल्पना शक्ति से आपने यह दर्शाने की सफल चेष्टा की है कि मनुष्य के सारे कामों का बीज विभिन्न प्रकार की भूखों की ज्वाला से ही प्रस्फुटित होता है। जितनी आकांक्षाएँ हमारी हैं उनकी तह में किसी न किसी तरह की भूख की ही छाप है। इस विषय को चित्रित करने में आपने संसार के सभी प्रमुख मतों की सरस, सुन्दर और तुलनात्मक व्याख्या अपनी सुलझी हुई अनोखी शैली में की है। मैं समझता हूँ कि आपका यह प्रयास अनोखा और सफल होने के साथ ही एक नूतन चमत्कार रखता है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी के

पाठक आपकी इस लेखनी को भी उसी तरह अपनायेंगे जिस प्रकार अन्य पुस्तकों को अपनाया है।

आपने इस पुस्तक में अपने नाम के आगे अपनी वंशपरम्परानुगत महाराज कुमार की उपाधि को नहीं रखा है। समर्पण पढ़ने के बाद इस उपाधि-त्याग का अर्थ सहज ही समझ में आ जाता है। यह द्योतक है उनकी सहृदयता और सरसता का।

पटना
२०–१–४२

अनुग्रहनारायण सिंह
भूतपूर्व अर्थसचिव (विहार)

दो शब्द

'भूख की ज्वाला' वर्त्तमान भारत में सर्वत्र धधक रही है। वर्त्तमान काल के कवियों और लेखकों की रचनाओं में उस ज्वाला का 'जलवा' खूब दिखाई पड़ता है। हिन्दी की अनेक कविताओं और कहानियों में भूख की ज्वाला में जलते हुए भारतवासियों के तड़पने की तसवीर खींची गई है। भारतेन्दु से अब तक के कवियों और लेखकों की कृतियों में सैकड़ों ऐसे हृदयद्रावक और रोमांचकारी दृश्य अंकित हैं जिनसे सहज ही करुणा का उद्रेक होता है।

भारतेन्दु-युग के पंडित प्रतापनारायण मिश्र लिख गए हैं—

"तब लखिहौ जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालैं"

द्विवेदी-युग के महाकवि मैथिलीशरण ने भी लिखा है –

"दुर्भिक्ष मानों देह धर के घूमता सब ओर है
हा! अन्न! हा! हा! अन्न का रव गूँजता घनघोर है
सब विश्व में सौ वर्ष में रण में मरे जितने हरे!
जन चौगुने उनसे यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे!!!"

"वह पेट उनका पीठ से मिलकर हुआ क्या एक है
मानों निकलने को परस्पर हड्डियों में टेक है
निकले हुए हैं दाँत बाहर, नेत्र भीतर हैं धँसे
किन शुष्क आँतों में न जाने प्राण उनके हैं फँसे"

आधुनिक युग के कविवर 'दिनकर' की पंक्तियाँ भी वही कहती हैं—

"दूध दूध !' ओ वत्स ! मन्दिरों में
बहरे पाषाण यहाँ हैं
'दूध दूध !' तारे, बोलो, इन
बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?

'दूध दूध !' फिर 'दूध' अरे
क्या याद दूध की खो न सकोगे
'दूध दूध' मर कर भी क्या तुम
बिना दूध के सो न सकोगे ?

हटो व्योम के मेघ पंथ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं
'दूध दूध !' ओ वत्स ! तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं"

गद्य-रचनाएँ भी 'भूख की ज्वाला' की आँच से नहीं बची हैं। श्रद्धेय प्रेमचन्दजी ने इस ज्वाला में सबसे पहली आहुति डाली। ऐसी आहुति डाली कि लपटें आसमान में छा गईं। उन्होंने असली भारत का चित्र खींचा। गुमराह लेखकों का ध्यान भी उसी ओर खींचा। जहाँ भूख की ज्वाला सचमुच

धधकती है वहीं उन्होंने अपना अड्डा बाँधा। फिर तो वहाँ जमघट लग गया !

यह भूख की ज्वाला अतिशय भयंकर होती है। इसमें बड़े-बड़े साम्राज्य भी भस्म हो जाते हैं। इसकी आँच ईश्वर से भी नहीं सही जाती—

"तुलसी हाय गरीब की हरि सों सही न जाय
मुए चाम की साँस से 'सार' भसम ह्वै जाय"

इसमें जो जलता है उसे दुनिया का राग-रंग नहीं सुहाता। साहित्य का सुधा-रस भी उसमें नवजीवन का संचार नहीं कर सकता। किसी ने ठीक कहा है—

"काव्येन हन्यते शास्त्रं
काव्यं गीतेन हन्यते
गीतं नारी विलासेन
क्षुधया सोऽपि हन्यते"

"जहाँ शास्त्रों की चर्चा छिड़ी हो वहाँ कविता-पाठ होने लगे तो वह चर्चा फीकी पड़ जायगी। जहाँ कविता-पाठ हो रहा हो वहाँ संगीत का रस बरसने लगे तो कविता-पाठ हवा हो जाय संगीत भी नारीविलास के सामने नीरस हो जाता है। वह नारी विलास भी 'भूख की ज्वाला' में स्वाहा !!"

बहुतों ने यही सत्य प्रकट किया है—

"बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते
पिपासितैः काव्यरसो न पीयते"

"जब पेट की ही पड़ रही, फिर और की क्या बात है
'होती नहीं है भक्ति भूखे' उक्ति यह विख्यात है"

इस प्रकार इस 'भूख की ज्वाला' की महिमा सर्वोपरि है। इसी ज्वाला में भारत एक-डेढ़ शताब्दी से जल रहा है। यों तो, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर, सारा संसार ही, इसी ज्वाला में झुलस रहा है। इसकी लपटों की लपेट में सारा भूमंडल है। पृथ्वी का कोइ राष्ट्र इससे अछूता नजर नहीं आता। विराट् रूपधारी परमात्मा के उदर-महासागर का यह भीषण वाडवानल अत्यन्त विकराल और प्रचंड है। इसकी व्यापकता सोचकर मनुष्य का मन मूढ़ हो जाता है।

संसार में जो कुछ पाप और अत्याचार है, सबके मूल में यही है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' अक्षरशः सत्य है। हमारे मान्य नेता ठीक कहते हैं कि भारत की भूख की ज्वाला शान्त होने पर अन्यान्य ज्वलन्त प्रश्नों का समाधान आप-से-आप हो जायगा। जब तक यह ज्वाला जलती रहेगी, सब तरह की दुर्बलताएँ बनी रहेंगी।

लंका में जब हनुमान ने आग लगाई, तब "हरिप्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास"। अग्निकांड का सहायक प्रभंजन भी है। अग्नि का एक नाम 'वायुसखः' भी है। भोजपुरी भाषा की एक कहावत है 'अबरे उनचास बयार'। जो अबल होता है उसमें पचासों दोष आ जाते हैं। निर्बल शरीर रोगों का घर है।

दुर्वल मस्तिष्क कुत्सित विचारों का केन्द्र है। 'भूख की ज्वाला' शरीर और मस्तिष्क को अशक्त बना देती है। इससे जलनेवाले में किसी प्रकार की क्षमता नहीं रह जाती। उसकी बुद्धि विकल, मन चंचल और हृदय हाहाकारमय हो जाता है। वह जो न कर डाले, थोड़ा है। उसकी आह प्रलय मचा सकती है। प्रमाण प्रत्यक्ष है।

आह का असर सारी दुनिया जानती है। इसके बारे में कवियों ने जो कुछ लिखा है, गलत नहीं है। हनुमान ने सीता की शोकवह्नि से लंका-दहन किया, यह कोरी कल्पना नहीं है। मीर साहब के इस शेर में भी अतिशयोक्ति कहाँ है ?

करूँ जो आह जमीं वो जमाँ जल जाय
सपहरे नीली का यह सायवाँ जल जाय

इतना ही नहीं, मीर साहब ने आह का असर गजब दिखाया है—

"न करना जब्त मैं नाला
तो फिर ऐसा धुआँ होता
कि नीचे आसमाँ के
एक नया और आसमाँ होता"

"तारे तो ये नहीं, मेरी आहों से रात की
सूराख पड़ गये हैं तमाम आसमान में"

यद्यपि मीर साहब की यह आह भी 'एक प्रकार की भूख' की ज्वाला में तड़पने से ही उठी है, तथापि 'पेट की आग' से बेचैन भारतीयों की आह का असर साफ बतलाती है। आसमान

में छेद करनेवाली इस आह के विषय में हमारे महाकवि 'शंकर' ने भी कहा है—

"काहू विधि विधि की बनावट
बचैगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की
आह कढ़ जायगी"

वियोगिनी की आह से सृष्टि-संहार भले ही असंभव हो, 'सीता की विरहाग्नि से लंका-दाह' में भले ही अतिरंजना हो, परन्तु प्रजा की आह से साम्राज्यों का ध्वंस ऐतिहासिक सत्य है। यही 'प्रजा की आह' दूसरे शब्दों में 'भूख की ज्वाला' है। हमारे धर्म-ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि यज्ञ की होमशिखा जब बुझ जाती है तब देश में भूख की ज्वाला धधकने लगती है। धार्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य यही सोचते हैं कि यज्ञानल के मन्द होने से ही जठरानल तीव्र हुआ है। पर जठरानल में डालने के लिए तो कुछ है ही नहीं, यज्ञानल में क्या खाक आहुति पड़े! स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि होमकुण्ड में घी और खीर क्यों डालते हो, दरिद्रनारायण के उदराग्नि-कुण्ड में डालो, तब विश्वात्मा अधिक तृप्त होगा। फिर भी भगवान ने गीता में यही बतलाया है कि यज्ञ से ही प्रजा का अन्न-कष्ट दूर हो सकता है—यज्ञाग्नि प्रज्वलित होकर भूख की ज्वाला को दबा देगी—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि
पर्जन्यादन्नसम्भवः

यज्ञाद्भवति पर्जन्यः
यज्ञः कर्मसमुद्भवः

पर इस सिद्धान्त पर इस बीसवीं सदी में बहुत ही कम लोगों की आस्था होगी। कारण, वे कहेंगे, जब तक देश समृद्ध नहीं होता, यज्ञ की कल्पना केवल मनमोदक है। तथापि, गीता का यह वाक्य तो त्रिकाल-सत्य है ही, इसमें कोई सन्देह नहीं, भले ही भूखे भारतीय भगवद्वाक्य का भाव भूल जायँ !

किन्तु इस पुस्तक में केवल 'भूख की ज्वाला'—पेट की आग—जठराग्नि—का ही चित्र अंकित नहीं है; उस भूख की ज्वाला का भी चित्र बड़ी विशदता एवं विचक्षणता से अंकित है, जो मनुष्यमात्र के—बल्कि प्राणिमात्र के—हृदय में धधक रही है। पात्रानुसार उसके रूप में भिन्नता अवश्य है। रावण और दुर्योधन के हृदय में भी यह धधकी थी, सिकन्दर और नेपोलियन के हृदय में भी। आज उसी में हिटलर, मुसोलिनी, जापान, सब स्वाहा हो रहे हैं। असंख्य सम्राट और विजेता, महत्त्वाकांक्षी और प्रभुताशाली उसमें भस्मीभूत हुए हैं, हो रहे हैं, होंगे और होते रहेंगे। यह ईश्वर का चक्र अनादि काल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। साम्राज्यलिप्सा का शमनसाम्राज्य-विस्तार से नहीं होता—प्रभुत्व-प्राप्ति की तृष्णा सदा तरुणी बनी रहती है।

मनुष्य की वासनाओं की यही दशा है। वासनाएँ भी मन की भूख ही हैं। वासनाओं की ज्वाला उदरज्वाला से भी भयंकर

कही जा सकती है। मानवजीवन वासनाओं का पुञ्ज है। वासनाओं की तृप्ति वासनाओं की पूर्त्ति से नहीं होती। मनुष्य की कल्पनाएँ सदा अतृप्त ही रहती हैं। भोगों की तृष्णा आज तक किसी की नहीं मिटी है और न मिटनेवाली ही है। यही मानसिक भूख की ज्वाला समस्त जगत को नाच नचा रही है। श्रीमान् राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के उपन्यासों में, विशेषतः 'राम रहीम' में, यह नाच देखने योग्य है।

विष्णु पुराण में लिखा है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते"

'अर्थात् काम्य के उपभोग से क़ामना शान्त नहीं होती, बल्कि और भी बढ़ती ही जाती है, जैसे घी की आहुति पड़ने से आग।'

संसार में यही दृश्य सर्वत्र दीख पड़ता है। बचपन से बुढ़ापा तक मनुष्य भूख की ज्वाला में ही जलता रहता है, चिता के लिए केवल स्थूल शरीर ही बचा रह जाता है। पुत्र-कलत्र और धनधान्य की भूख मनुष्यमात्र को उद्विग्न करके संसार को संघर्षमय बना रही है—एक अजीब हलचल मचाए हुई है। किसी को सत्ता की भूख है, किसी को यश की, किसी को धन की, किसीको विषयोपभोग की, किसी को कुछ, किसी को कुछ। किसी-न-किसी तरह की भूख सबको है। इसी भूख के इशारे पर सब के सब नट-मर्कट के समान नाच रहे हैं।

बचपन में मिठाइयों और खिलौनों की भूख थी; जवानी में युवती की भूख हुई। युवती मिली तो सन्तान की चाह हुई। फिर

बेटे के बाद पोते की, जमीन जायदाद की, कोठी-बँगले की, मोटर-फिटन की। यह भूख की लड़ी जीवनसूत्र के साथ ही टूटती है। भूख की हाय मिटने से पहले ही मौत का परवाना पहुँच जाता है। कवि ने बड़ा सुन्दर रूपक बाँधा है—

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदिष्यति हसिष्यति पङ्कजश्री
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफः
हा हन्त हन्त नलिनीं गजउज्जहार"

'कमल सम्पुट में बन्द भौंरा सोचता है कि रात बीत जायगी, सुप्रभात होगा, सूर्योदय होगा, कमल विकसित होगा (उड़-उड़ कर कमल-वन का स्वच्छन्द मकरन्द-पान करूँगा); किन्तु उसके ऐसा सोचते-सोचते हाथी ने कमल को उखाड़ फेंका !!!'

मनुष्य की भी यही दशा होती है। वह हवाई महल बनाने में—खयाली पुलाव पकाने में—भूख की ज्वाला जगाते जाने में—लीन रहता है, तब तक मौत चपेट लेती है। मौत का झपट्टा भूख की ज्वाला को निगल जाता है।

किन्तु हमारे धर्मग्रन्थों के अनुसार तो भूख की ज्वाला जन्म-जन्मान्तर साथ नहीं छोड़ती—बारबार जठरानल में झोंक देती है—जब तक मनुष्य निष्काम नहीं होता, आवागमन छूटता नहीं। यह जठरानल का अलातचक्र कैसा विलक्षण है! इसी लिए युधिष्ठिर से जब यक्ष ने पूछा कि संसार में क्या वार्ता है तब उन्होंने उत्तर दिया—

"अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्य्याग्निना रात्रिदिवेधनेन
मासस्य दर्वी परिघट्टनेन
भूतानि कालं पचतीति वार्त्ता"

'यह मोहमय संसार बहुत बड़ा कड़ाह है। सूर्य अग्नि है। रात और दिन ईंधन हैं। महीना कलछी है। काल सब जीवों को घोटकर पका रहा है।'—यह विराट अंडकटाह वास्तव में भूख की ज्वाला-माला से आवृत है। भारतीय विचारकों ने इसका रहस्य भली-भाँति समझा है। वे बार-बार भूख की ज्वाला से बचे रहने का आदेश देते हैं। वे मनुष्य के मनोरथ-रथ को अध्यात्म पथ पर अग्रसर करना चाहते हैं; परन्तु यह मनोरथ-रथ तो दलदल की ओर दौड़ रहा है!

अस्तु! भूख की ज्वाला इस जगत् में जो लीला कर रही है उसका दिग्दर्शन इस पुस्तक के लेखक ने बड़े कौशल से कराया है। उनकी सहृदयता और उनकी अनुभूति बड़ी गहरी है। उनकी शैली और कल्पना में सरसता और सुन्दरता है। इसके सहारे पाठकों को थोड़ी देर कुछ सोचने की सामग्री मिल जायगी। जिस पुस्तक के पढ़ने के बाद पाठक चिन्तनशील बन जाता है उसी के लेखक का परिश्रम सफल होता है। तथास्तु।

राजेन्द्रकालेज।
छपरा
वि० सं० १९९८

शिवपूजनसहाय

भूख की ज्वाला

(प्रथम सर्ग)

भूख

शास्त्रों में लिखा है कि इन्द्रादि लोकों में भूख नहीं लगती। पेट की चिन्ता न होने के कारण वहाँ सभी जीव सुखी, सभी प्राणी प्रसन्न रहते हैं। माना कि देवलोक में पेट की भूख नहीं है। देवताओं को धनधान्य की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि उनके पेट में भूख की जलन नहीं उत्पन्न होती; पर उनके मन में जो देवत्व की भूख जला करती है—वासना की भूख अहर्निश जाग्रत रहती है; इर्ष्या, द्वेष, स्वार्थसिद्धि और यशवृद्धि की भूख-ज्वाला

भूख और उसके भेद

निरन्तर सुलगा करती है, वे क्या हैं ? वे भी तो पेट की भूख की जलन के भेद के ही ज्वलन्त उदाहरण हैं ! हमारे आदि देवता, इन्द्र भगवान भी तो इन्हीं भूखों की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। तो बताओ, भूख कहाँ नहीं है ! गाँव से लेकर शहर तक, स्वर्ग से लेकर नरक तक, और कुटिया से लेकर महल तथा महल से घूमकर सारे संसार भर में इस भूख का ही तो बोल-बाला है। इसी भूख की माया पर तो सृष्टि के सृजन का काम चालू है। पर भेद है—भूख और भूख की जलन में। जलन में भेद का होना ही तो जीवन में रहस्य का होना है। बिना रहस्य के जीवन कहाँ ! और साथ ही बिना भेद के रहस्य कहाँ ! वैसे ही भूख की जलन में भी भेद है। राजा की भूख की जलन में, सड़क पर चार फाके करके चुपचाप सो रहनेवाली अन्धी की भूख की तड़प में, मजदूर के मजदूरी करके भी पैसे न पाने पर, उपवास करने की आह में तथा नेवता खाने जाते समय पण्डित के पेट में जलती हुई भूख की उछल-कूद में हज़ार-हज़ार तरह के भेद हैं—अगणित अन्तर हैं। राजा को भूख लगने की भूख है ; अन्धी को भूख की पीड़ा में मर-मिटने की भूख है ; बलिष्ठ मजदूर को मालिक को अकेला पा उसकी गर्दन ऐंठकर पैसा वसूल कर लेने की भूख है और पण्डित जी को नाना-व्यञ्जन-विभूषित-थाल पर मनमाना हाथ साफ करने भर की भूख है। अब बताओ इन भूखों में भेद नहीं है ? अजी पेट की इस एक स्वाभाविक भूख को अनेकानेक कृत्रिम भूखों में बाँटकर आज संसार स्वतः भूखा बन गया है। इसके पेट में आज़ सहस्रों की संख्या में कृत्रिम भूखों का जन्म किस लिये और किस कारण से हुआ है, यह उसे स्वतः ज्ञात नहीं। वह निर्धन भूखा बेचारा

किन-किन भूखों को शान्त करे! भगवान् ने एक भूख दी थी उसे पेट की, दूसरी भूख उसमें पैदा की थी वासना की। फिर संसार ने समाज बनाकर, काम और पेट की भूख का विश्लेषण करके, उसके सहस्रों ऐसे कृत्रिम भेदों को जन्म दिया कि मनुष्य जाति का प्रत्येक नर-नारी उसकी चकाचौंध से सम्मोहित और प्रभावित होकर जन्मजन्मान्तर के लिये अपनी असली भूख के रूप को भूल गया। उसका जीवन एक ही जन्म में नहीं, जन्म जन्मान्तर के लिये कृत्रिम भूख का जीवन बन गया।

कृत्रिमता की इस दुर्जय होड़ से कोई व्यक्ति-विशेप अपने को बचा भी तो नहीं सकता। होड़में पड़कर मनुष्य क्या नहीं कर सकता! प्रतिद्वन्द्विता मनुष्य की भीतरी सञ्चित शक्ति को भी जाग्रत करके उससे अपनी वास्तविक शक्ति से परे का कार्य सम्पन्न करा लेती है। प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य विवेकहीन होकर अपने जड़ शरीर की यावदेक शक्ति को एक दिशा में केन्द्रित करके आश्चर्य से आश्चर्यजनक कार्य को भी सरलतापूर्वक कर बैठता है। अच्छी या बुरी, जब होड़ लग जाती है तब कोई उससे अपने को बचा नहीं सकता। प्रतिद्वन्द्विता के बवण्डर के साथ-ससभी ाथ एक ही ओर बहने लगते हैं। उससे बचकर जो निर्बल या सबल अपना पाँव जमाकर खड़ा होना चाहेगा, वह मारे धक्कों के—मारे थपेड़ों के वहीं तुरत गिरा दिया जायगा। तो समाज के ये निर्बल पुतले अपने को समाज की हवा से परे रखकर जीवित कैसे रह सकते हैं? इसी से आज विज्ञान-आविष्कृत ऐहिक सुखों की भूख इतनी बढ़ गई है कि इसके आगे पेट की स्वाभाविक भूख की पूछ ही नहीं रही।

चार फाका करके घर में हमें चुप-चाप सो रहना मंजूर है पर ऐशवी आराम की बाहरी तड़क-भड़क में कमी करके असभ्य बनना हमें स्वीकार नहीं। धनिक ने कभी अपनी बेकारी की घड़ियों में मन बहलाव के अभिप्राय से इस कृत्रिम और ऐहिक तड़क-भड़क-वाली भूख का आविष्कार किया था, पर उसका विकास और प्रचार मशीनवाद के सहयोग से आज इतना शीघ्र और तीव्र हुआ कि उसकी देन ग़रीबों के घर-घर में देखते-देखते पहुँच गई; और गरीब भी उसी होड़ में पड़कर उसी कृत्रिम भूख के पीछे पागल हो उठे। बस शिव की बारात सज गई। फैशन के नशे में सभी की आँखें लाल हो उठीं। सभी अपने मस्तिष्क की विकृतावस्था में अपने कर्त्तव्य को भूल गये। बन आई धनिकों की। इन्होंने हजारों तरह की आकर्षक भूखों को आविष्कृत करके संसार के सभी मनुष्यों के मन में उनके लिये लालच तो उत्पन्न कर दी पर उसकी तृप्ति का साधन, धन चुपके से अपने पास ही रखा। फिर अपनी उसी पूँजी के बलसे उन्होंने विज्ञान, मशीन के आविष्कार, व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा कानून और सभी निर्माण के साधनों को क्रय करके सदा के लिये अपने अधीन कर लिया। अब गरीब संसार को अपनी इन नवजात भूखों की तृप्ति के लिये अपने पेट की भूख में ही कमी करके, धनिक के लिये पैसा निकालना पड़ता है। और धनिक उसी शोषित धन के सहारे ग़रीब के खाद्य-पदार्थ को भी क्रय करके अपने पास राशि की राशि में जमा कर सरकारी संगीनी पहरा उसपर बैठा देता है। और तब ग़रीब, निर्बल, बेचारा किसान दीन बनकर अपनी ही उदर-पूर्ति के लिये दर-दर की खाक छानता है तब कहीं मुट्ठी भर

अन्न उसे मिल पाते हैं। तो बताओ इस अवस्था में बेचारा ग़रीब करे तो क्या करे ?—सरकार के पास जाय तो सरकार भी उन्हीं धनिकों की खरीदी हुई, बनाई हुई पृष्ठपोषक सरकार ठहरी। उन्हीं के पैसे से, उन्हीं के जान-माल की रक्षा के लिये तो उसका निर्माण हुआ था। वह भला उनके प्रतिकूल जाय तो कैसे जाय ! हजारों तरह की कृत्रिम भूखों की ज्वाला सुलग-सुलगकर उस ग़रीब के मन को एक ओर झुलस रही हैं और दूसरी ओर साधन-हीन बनाकर चुपचाप समाज के सुदूर स्थान में अपनी स्वाभाविक भूख की जलन में जलने मरने के लिये—आँतों की तीव्र ऐंठन की महान पीड़ा को वृश्चिक-दंश की तरह चुपचाप सह लेने के लिये वह बन्दी बना दिया जाता है। तिसपर भी वह बेचारा बना, साधन-हीन हो 'टुकुर-टुकुर दीदम, दम नकसीदम्' का दृश्य उपस्थित करता रहता है। हाय रे ! ग़रीब निर्बल की भूख और उसकी ज्वाला—

'रहिमन कहते पेट सो, क्यों न भयो तू पीठ।
छुधा बिगारत मान को, भरे बिगारत दीठि॥'[1]

१—इस दोहे का दूसरा पाठ यों है :—

कह रहीम निज पेट सो, भये न काहे पीठ।
भूखे मान बिगारते, भरे बिगारत दीठ॥

तो क्या सचमुच तुम अपनी ग़रीबी का, अपनी भूख की ज्वाला और वेदना का अनुभव करते हो ? अपनी आवश्यकता अपनी जरूरत की पूर्ति सचमुच करना चाहते हो ? मैं कहूँगा, नहीं। तुमने अपने पेट की भूख को मार कर और वासना की भूख को जाग्रत करके अपने ही को निर्बल, सभय, और गत-पौरुष नहीं बनाया बल्कि अपने को भूलाकर, अमीर और धनिकों के सामने दीन बनाकर अपने साथ संसार के बहुसंख्यक समुदाय को भी पतन के गर्त में सदियों के लिये ऐसा गिराया कि उनकी वहाँ से पुनः उठने की इच्छा तक नष्ट हो गई ? अब वे पतन के उस नरक में ही अपने जीवन की सार्थकता मानने लगे। सचमुच संसार के सभी निर्बलों ने अपना सर्वनाश अपने हाथों किया है। मैं पागल नहीं जो झूठ-मूठ का प्रलाप करूँगा और तुम उसको सुनकर हँसोगे। यदि तुमको भूख की ज्वाला वास्तव में जलाती होती तो स्यात् तुम इस तरह प्रसन्न मन अपने अर्जन, जीवन के सम्पूर्ण साधन को चन्द मुट्ठी-भर अमीरों के हाथ में देकर आप कुम्भकर्णीय निन्द्रा में इस तरह शयन न करते और अपने को सदा के लिये इस प्रकार असहाय, पराश्रित न बना लेते। क्या कहते हो ? 'तुम्हारा संस्कार वैसा नहीं ; तुम में औरों जैसी बुद्धि नहीं, तुम्हारे भाग्य और कर्म उनके भाग्य और कर्मों के ऐसे नहीं, इसलिये तुम दीन हो—दुःखी और निर्बल हो।'

भूख का अज्ञान

नहीं जी, तुममें बुद्धि है, भाग्य, शक्ति, साधन, हौसला, साहस, पौरुष सब कुछ तुम्हारे पास वर्तमान हैं—पर हैं वे सब सुप्तावस्था

म। जब कभी वे जाग्रत होने को होते हैं, तभी धनिकों के रुपये से खरीदे हुए तुम्हारे ही साथी तुम्हारा हित बनकर शत्रु की तरह सारे आन्दोलन की लीपा-पोती कर देते हैं। और तुम्हें अपने असली रूप को देखने का अवसर ही नहीं प्राप्त होने देते। ऐसी भूख तुम निर्बलों को कब तक भूखा रखेगी, यही आज संसार के धर्मात्माओं के सामने जटिल समस्या है, भूखा! यह समस्या हल होगी, केवल संसार के सर्व-संहार की योजना से जो आज प्रकृति धनी और गर्वीले देशों में धीरे-धीरे स्वतः जुटाती चली जा रही है। विकास के साथ-साथ समाज के अत्याचार की दीवाल की नींव के नीचे प्रकृति कर्मानुसार उन्हीं के उन अत्याचारी हाथों से जो गरीबों के रक्त से रञ्जित हैं, बारूद भी धीरे-धीरे बिछवाती चली जा रही है। एक दिन समय आने पर उनके ही द्वारा उसमें एक चिनगारी भी फेंकवा देगी और बस संसारव्यापी धड़ाका हो जायगा? सारे अत्याचार की दीवाल गिर पड़ेगी— सर्वनाश का हुँकार हुँकृत होकर सर्वस्वाहा कर देगा। विज्ञान, ज्ञान, समाज सब प्रलय में मिल जायँगे और शिव का ताण्डव-नृत्य, डमरु की ताण्डव गति पर शुरू हो जायगा। वह महारौद्र महानाश रूप अन्धकार के बीच से प्रारम्भ होकर प्रकाश निर्माण करेगा। प्रकाश से निर्माण! सृजन!! सृष्टि का नये सिरे से सृजन!! कितना सुन्दर वह सृजन होगा!!! किन्तु भूल गया—भूख को छोड़कर निर्बल की आह की बातें बकने लगा। भूलना ही संसार का नियम है क्योंकि संसार स्वतः भूल है, भ्रम है, माया है। प्रकृति भी तो कभी-कभी भूलती है। तभी तो वह तुम्हारे मत के अनुसार सृजन के बाद विनाश और विनाश के बाद सृजन करती

है। असार इसी से तो कहता हूँ कि मरण पर जीवन और जीवन पर मरण जब संसार का अटल नियम है तो इसको टालने की शक्ति हम में या तुम में नहीं है। तब तुम्हारा हँसना व्यर्थ है। इसमें हर्ष और विषाद की कौन सी बात है कि तुम इस जरी सी भूल पर इतने जोरों से हँस पड़े।

धनिक की भूख

हाँ तो धनिक की भूख की चर्चा थी न? उसके काम और वासना की भूख? ओह! उसकी वह भूख! वह चाह!! वह प्यास!!! इतनी तीव्र है कि पेट की भूख का ज्वलन्त उदाहरण, विश्वामित्र का श्वान-मांस-भक्षण भी उसके सामने नगण्य है। तो क्या पूछते हो कि धनिक भी भूख की ज्वाला से पीड़ित होता है? बड़ी नई बात पूछी? अजी, गरीब की भूख-ज्वाला धनिकों की भूख-ज्वाला के सामने अपनी हस्ती ही क्या रखती है। गरीब की भूख विवश करके उस ज्वाला में जलने के लिये उसे केवल लाचार कर देती है। वह दो चार फाके करके, हाथ-पाँव हवा में पीटकर, ठण्डी साँस ठण्ढे स्वर से खींचकर, भूख की पीड़ा शान्त करने को चुपचाप सो रहेगा। पानी पी-पीकर दो चार अन्तिम दिन काट भी देगा; पर अपनी लाचारी का—अपनी वेदना और पीड़ा का न तो ढिंढोरा ही पीटेगा और न उसके चिल्लाने और ढिंढोरा पीटने पर कोई उसकी सुनने के लिये कान ही खड़ा करेगा। किन्तु धनिक की भूख? धनिक की भूख तो भूख को भड़काने के लिये उत्पन्न होती है। उसकी भूख की ज्वाला उसके हृदय में इसलिये

जन्म लेती है कि वह हजारों के पेट की भूख को—हजारों के काम की भूख को, ऐश, आराम और अमोद-प्रमोद की भूख को—केवल अपने ही साढ़े तीन हाथ के शरीर में—नन्हें से पेट में ऐसा केन्द्रित कर ले कि वह हजारों के भोजन, हजारों की कामवासना, हजारों के ऐश वो आराम, आमोद और प्रमोद को दिन-रात हजारों तरह से भोगता रहे, और उसमें कभी कोई त्रुटि न आने पावे; भस्मासुर की भूख जैसे वह निरन्तर बढ़ती ही जाय, कभी घटे नहीं। ऐसी भूख की भूख धनिकों की है। अब बताओ, वह तुम गरीबों की भूख से सबल हुई कि निर्बल? उसकी एक भूख जागरित हुई नहीं कि लाखों की संख्या में संसार उसकी पूर्ति के लिए उसके आगे दौड़ पड़ेगा। अपना पेट काटकर तन, मन, धन तीनों से उसकी सन्तुष्टि करने लगेगा। और तब धनिक चाहने लगेगा कि उसकी भूख की ज्वाला ऐसी बढ़ जाय कि वह वर्षों तक निरन्तर उसी के द्वारा इतने लक्ष-लक्ष कोटि में प्रस्तुत किये हुए सामानों का उपभोग करता रहे; लक्ष-लक्ष कोटि की संख्या में इकट्ठे आमोद-प्रमोद की सामग्री को निरन्तर भोगा करे। उसकी यह पिपासा, यह कामना नित्य नूतन बढ़ती चली जा रही है। जंगल के अग्निकांड ऐसा, समुद्र के वडवानल ऐसा, क्षितिज के अन्त के ऐसा तृप्ति का अन्तिम छोर यहाँ कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता। तब बताओ उस धनिक की भूख तुम निर्बल गरीब की भूख से बढ़कर है या घटकर?

तुम अज्ञान में हँसते हो और मैं ज्ञान में रोता हूँ। तुम गरीब चाहते हो कि दो दिन जीने को है तो एक ही दिन में मर जाऊँ;

ताकि वेदना से पिण्ड छूटे। और धनिक चाहता है कि एक दिन जीने को है तो ऐसा उपाय करो कि बीस दिन तो ज़रूर ही जीकर वासना का थोड़ा और उपभोग, धन का थोड़ा और सुख कर लें। किन्तु वास्तव में यह जीवन-वृद्धि का निदान ही उसके विनाश का कारण बनता चला जाता है। धनी निर्बल गरीब का धन लेकर उसको यह फतवा देता है कि जब सन्तान पालन का साधन नहीं है तब मानवी सुखों का उपभोग न करो; या करो भी तो सन्तान न पैदा होने दो। परन्तु स्वयं धनी गरीब की सन्तान के पालन-पोषण का साधन छीनकर हजारों हज़ार नारियों के साथ अपनी हज़ार-हज़ार वासना की तृप्ति में तल्लीन रहता है और फिर भी तृप्त नहीं होता। पर गरीब, बेचारा बना हुआ, धनिक के फतवे को मानकर उसको अपने खून की कमाई चुपचाप समर्पित कर देता है। और धनी उससे दिन दूना रात चौगुना निहाल होता चला जाता है। किन्तु जटिल प्रश्न तो यह है कि यह धाँधली कितने दिनों तक और चालू रहेगी? ओह! यह निर्दय व्यवहार कुटिल-दैव की योजना से चालू है या मनुष्य की प्रेरणा से यह कौन बतावे! किन्तु तुम तो तर्क करने लगे। मेरी बातों में अविश्वास करके 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त पेश कर उसका समर्थन करने लगे—सामाजिक विषमता और एकाधिपत्य के पक्ष को समर्थन करने के लिये तैयार हो गये।

●

क्या कहते हो कि तुम्हारा यह तर्क झूठ है। माना कि समाज को ऐसा बनाकर मनुष्य अपने बुद्धि-बल से एक दूसरे का शोषण कर रहे हैं। पर पशु और प्रकृति जगत में भी तो ऐसी ही धाँधली चल रही है—ऐसी ही छीना-झपटी मची हुई है। वहाँ क्यों नहीं न्याय है? वहाँ क्यों नहीं इन्साफ का तकाजा है? 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का वहाँ भी तो बोल-बाला है। वहाँ तो मनुष्य का समाज नहीं—मनुष्य की बुद्धि का शासन नहीं। सुदूर सुन्दर हिमालय की खोह में, सुन्दर-वन के अन्तराल में, अफ्रिका के हृदय में, आल्प्स् के मस्तक पर, साइबेरिया के दल-दल में और अमेरिका के विकट जंगलों में—कहीं भी तो मनुष्य की बुद्धि का राज्य नहीं। और कहीं भी इस छीना-झपटी के बोल-बाला का—'जीवो जीवस्य जीवनम्' का अभाव नहीं। यह क्यों?'

जीवो जीवस्य जीवनम्

'जब प्रकृति न्यायशील है और उसकी सभी सन्तान उसको एक समान प्रिय हैं तब उसने क्यों एक को सबल और दूसरे को निर्बल बनाया? और यदि वैसा उसे बनाया भी तो एक की सबलता दूसरे की निर्बलता का नफा उठाने के लिए ही क्यों बनायी गई? एक कीट से लेकर सिंह तक सर्वत्र एक ही सिलसिला लगा हुआ है। सबल अपने से निर्बल को खा रहा है। परन्तु आश्चर्य यह है कि न तो निर्बल ही नष्ट होता है और न सबल ही। सबसे कमज़ोर मक्खी भी अनादि काल से चली आ रही है। वैसी ही निर्बल चींटी आज तक जीती है।'

'वनस्पत्ति-जगत में भी जो सबल जाति के हैं, वे निर्बल जाति

को दवाकर आकाश में निकल जाते हैं और अपने आस-पास-वाले सभी निर्बल पौधों को सुखाकर अपने खाने भर से अधिक पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लेते हैं। यह सब क्यों होता है ? इससे तो यही निश्चय है कि कोई खाने के लिये औ. कोई खाये जाने के लिए उत्पन्न किया गया है—एक जीव दूसरे जीव का भोज्य है। अब तुम्हारा कपोल-कल्पित मनुष्य-वैषम्य को कोसना कहाँ तक न्यायशील है, बता सकते हो ?'

हाँ जी, बहुत ही ठीक कहा। बातें तुम्हारी बड़े ही पते की हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त ही बहुत पुराना है और अकाट्य भी। लेकिन अहिंसा भी वैसी ही पुरानी वस्तु है। दोनो अकाट्य और दोनो काट्य भी हैं। दोनो का परस्पर विरोधी भाव रखना ही इस बात का प्रमाण है कि दो में एक ही सही है। पर यह बात भी नहीं है। समय-समय पर की मानव-धारणा के अनुसार, परिस्थिति और समाज के नियमों के अनुकूल दोनों की हस्ती कभी स्थापित हुई तो कभी काटी गयी। पर उन्हें दुनिया से कोई हटा कभी नहीं सका। इनकी मान्यता और अमान्यता हृदय की भावना के अनुसार प्रतिपादित होती रहती हैं। व्यक्ति अपनी धारणा के प्रतिकूल बातें तब तक नहीं मान सकता जब तक उसका विश्वास कही हुई बातों के अनुसार न हो जाय। तुम्हारी यह धारणा जन्म-जन्मान्तर की धारणा है; वह एक ओर हो गयी है। अब वह उधर से घुमाकर इधर इतनी जल्दी कैसे लायी जा सकती है ? संस्कृति की अनुवर्तिनी धारणा है—उसी से इसका जन्म होता है। और संस्कृति, समय, परि-स्थिति और स्वभाव का सक्रिय प्रतिरूप है। तुम उस संस्कृति को

विना समय, परिस्थिति और स्वाभाव को बदले हुये एकाएक मिटा कैसे सकते हो ? समाज तो संस्कृति का प्रतिरूप है। और तुम्हारी संस्कृति ही विकृत है। इसलिये तुम्हारा समाज भी विकृत है। तुम्हारे समाज में आज कतिपय शासन करने और कतिपय शासित होने के लिये हैं—चन्द खाये जाने और चन्द खाने के वास्ते जीवित हैं। हिन्दू धर्म-शास्त्र ने भी वाह्य रूप से ऐसा ही कुछ कह रखा है ; या यदि ऐसा कहा नहीं तो कम से कम उसका अर्थ ऐसा लगाया जाता है 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' इसी शास्त्र का वाक्य है। हिटलर भी तो इसी का हामी भरता है—'Mass is not meant to rule ; but to be ruled by some from among the mass.' भावार्थ 'समूह शासन करने के लिये नहीं है, बल्कि उस व्यक्ति द्वारा-शासित होने के लिये है जो समूह का चुनिन्दा हो।'

प्रजातन्त्रवाद (डेमाक्रेसी) का चुनाव भी सक्रिय रूप में, प्रकारान्तर से, उसी को मानता है। यहाँ भी तो समूह में से एक का ही बोलबाला हो जाता है। जिसके पीछे समुदाय (Mass) दौड़ पड़ता है। क्राइस्ट ने भी तो समूह को भेंड़ कहा है। उनको चराने के लिये एक की आवश्यकता बतायी है। इस तरह से प्रजा-तन्त्र का रूप वास्तव में एकाधिपत्य का रूप हो जाता है। लेकिन इससे शायद तुम नहीं समझोगे। अच्छा, दूसरी तरह से, इन प्रश्नों पर टुक विचार करो। ज़रा सोचो तो कि इस भारतीय जागृति का कारण कॉंग्रेसी समुदाय है या महात्मा गान्धी ; आयर्लैण्ड की स्वतन्त्रता का कारण आयर्लैण्ड की जनता की जागृति है या डीवेलरा ?

काँग्रेस तो पहले भी थी, किन्तु जागृति यह नहीं थी। लेकिन महात्मा गांधी क्या काँग्रेस के विना राजनैतिक महात्मा वन सकने थे? यह भी एक सवाल है। तव क्या कांग्रेस और महात्मा दोनों सापेक्ष शब्द हैं? एक दूसरे पर अवलम्बित हैं? लेकिन क्या इन दोनों को छोड़कर भारतीय जागरण के कारण का निदान अन्य जगह नहीं ढूँढ़ा जा सकता? भारत की परिस्थिति, अत्याचार तथा पाप ने क्या काँग्रेस और महात्मा गांधी को जन्म नहीं दिया? और क्या उन्होंने इन दोनों को अपने कार्य साधन का निमित्त नहीं बनाया? परिस्थिति ही तो समाज का रूप अपने अनुरूप बना देती है और अपनी आवश्यकता के अनुसार साधन निकाल लेती हैं। संस्कार की विकृतावस्था ही समाज का पतन है। समाज और संस्कृति का सुधारक कर्म सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकता होने पर स्वतः पैदा हो जाता है। उसमें किसी के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। समाज के कर्मफल के अनुसार प्रकृति स्वयं उस वहाँ जन्म दे देती है। फिर वह सुधारक व्यक्ति या समुदाय के शरीर में जन्म ले यह कोई ख़ास नियम नहीं है। यह व्यक्ति और समुदाय के कर्म से निर्धारित होता है।

तो क्या पूछते हो कि 'तव भूख के प्रश्न को हल करने की आवश्यकता ही नहीं रही? परिस्थिति उसे स्वयं हल कर देगी। तुम निरर्थक इतने परीशान क्यों हो रहे हो?'

हाँ जी, ठीक कहा। कुछ ऐसा ही होता भी है। कर्त्ता मनुष्य बुद्धि-प्रधान होने के कारण अपनी निर्वलता से कर्म करते करते कर्म का ऐसा ताना-वाना तान लेता है कि वह स्वयं फिर कर्त्ता नहीं रह जाता। अपने संचित कर्मों के हाथ का खिलौना वन

जाता है। और तब उसी संचित कर्म के गर्भ से फलस्वरूप वह महान परिस्थिति उत्पन्न होती है कि जिसकी प्रेरणा से मनुष्य अनुकूल प्रतिकूल कार्य में स्वतः संलग्न हो जाता है। 'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजे बुद्धि' के अनुसार इसी को होनी कहते हैं। होनी का कारण पूर्व संचित कर्म है। वही प्रेरित करके बुद्धि से अपने अनुरूप कार्य करने का परामर्श दिलवा देता है और व्यक्ति या समुदाय वैसा कर बैठता है। फिर क्यों बार-बार पूछते हो कि 'प्रकृति न्यायशील है या अन्यायशील ? एक को भूखों मार-कर दूसरों को आनन्द उपभोग में लीन रखकर प्रकृति न्याय करती है या अन्याय ?' इतना कहने पर भी यदि नहीं समझे तो यही समझो कि प्रकृति ने अपना एक सिलसिला चला दिया है। उसमें न्याय अन्याय कुछ नहीं—पक्षपात अपक्षपात कुछ नहीं। वह नियम, व्यक्ति या समुदाय के कर्म का आधार लेकर काम करता चला जा रहा है। उसमें एक सुकर्मी का हित दूसरे कुकर्मी के अहित के ऊपर बनता है, और फिर वही पहले कुकर्मी का अहित उस कुकर्मी का हित भी बन जाता है; और इस तरह एक का हित दूसरे का अहित बनकर भी उसके हित का कारण बनता है और उसको सुधारने के लिये, उससे भोग भोगाता है। अथवा उसका वास्तविक सुधार उसके कर्मफलों को भोगाकर करता रहता है। यह हिताहित का सिलसिला और कुछ नहीं, बल्कि व्यक्ति के कर्म का फलाफल मात्र है। प्रकृति के सामने शायद किसी के हित और किसी के अहित का, किसी की भूख और किसी की सन्तुष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो एक मात्र—'कर्म-प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल

काँग्रेस तो पहले भी थी, किन्तु जागृति यह नहीं थी। लेकिन महात्मा गांधी क्या काँग्रेस के विना राजनैतिक महात्मा बन सकते थे? यह भी एक सवाल है। तब क्या कांग्रेस और महात्मा दोनों सापेक्ष शब्द हैं? एक दूसरे पर अवलम्बित हैं? लेकिन क्या इन दोनों को छोड़कर भारतीय जागरण के कारण का निदान अन्य जगह नहीं ढूँढ़ा जा सकता? भारत की परिस्थिति, अत्याचार तथा पाप ने क्या काँग्रेस और महात्मा गांधी को जन्म नहीं दिया? और क्या उन्होंने इन दोनों को अपने कार्य साधन का निमित्त नहीं बनाया? परिस्थिति ही तो समाज का रूप अपने अनुरूप बना देती है और अपनी आवश्यकता के अनुसार साधन निकाल लेती हैं। संस्कार की विकृतावस्था ही समाज का पतन है। समाज और संस्कृति का सुधारक कर्म सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकता होने पर स्वतः पैदा हो जाता है। उसमें किसी के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। समाज के कर्मफल के अनुसार प्रकृति स्वयं उस वहाँ जन्म दे देती है। फिर वह सुधारक व्यक्ति या समुदाय के शरीर में जन्म ले यह कोई ख़ास नियम नहीं है। यह व्यक्ति और समुदाय के कर्म से निर्धारित होता है।

तो क्या पूछते हो कि 'तब भूख के प्रश्न को हल करने की आवश्यकता ही नहीं रही? परिस्थिति उसे स्वयं हल कर देगी। तुम निरर्थक इतने परीशान क्यों हो रहे हो?'

हाँ जी, ठीक कहा। कुछ ऐसा ही होता भी है। कर्त्ता मनुष्य बुद्धि-प्रधान होने के कारण अपनी निर्वलता से कर्म करते करते कर्म का ऐसा ताना-बाना तान लेता है कि वह स्वयं फिर कर्त्ता नहीं रह जाता। अपने संचित कर्मों के हाथ का खिलौना बन

जाता है। और तब उसी संचित कर्म के गर्भ से फलस्वरूप वह महान परिस्थिति उत्पन्न होती है कि जिसकी प्रेरणा से मनुष्य अनुकूल प्रतिकूल कार्य में स्वतः संलग्न हो जाता है। 'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजे बुद्धि' के अनुसार इसी को होनी कहते हैं। होनी का कारण पूर्व संचित कर्म है। वही प्रेरित करके बुद्धि से अपने अनुरूप कार्य करने का परामर्श दिलवा देता है और व्यक्ति या समुदाय वैसा कर बैठता है। फिर क्यों बार-बार पूछते हो कि 'प्रकृति न्यायशील है या अन्यायशील ? एक को भूखों मार-कर दूसरों को आनन्द उपभोग में लीन रखकर प्रकृति न्याय करती है या अन्याय ?' इतना कहने पर भी यदि नहीं समझे तो यही समझो कि प्रकृति ने अपना एक सिलसिला चला दिया है। उसमें न्याय अन्याय कुछ नहीं—पक्षपात अपक्षपात कुछ नहीं। वह नियम, व्यक्ति या समुदाय के कर्म का आधार लेकर काम करता चला जा रहा है। उसमें एक सुकर्मी का हित दूसरे कुकर्मी के अहित के ऊपर बनता है, और फिर वही पहले कुकर्मी का अहित उस कुकर्मी का हित भी बन जाता है; और इस तरह एक का हित दूसरे का अहित बनकर भी उसके हित का कारण बनता है और उसको सुधारने के लिये, उससे भोग भोगाता है। अथवा उसका वास्तविक सुधार उसके कर्मफलों को भोगाकर करता रहता है। यह हिताहित का सिलसिला और कुछ नहीं, बल्कि व्यक्ति के कर्म का फलाफल मात्र है। प्रकृति के सामने शायद किसी के हित और किसी के अहित का, किसी की भूख और किसी की सन्तुष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो एक मात्र—'कर्म-प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल

चाखा' के सिद्धान्त पर विश्व का शासन करती चली जा रही है।

लेकिन दुनिया की खोपड़ी में भूख का प्रश्न ही तो आज ठोस सत्य है। समाज में मनुष्य की विषमता ही भूख के प्रश्न को शीघ्रातिशीघ्र हल करने की आवश्यकता बता रही है; या यों कहो कि बुरे कर्म के फलस्वरूप, विषमता आज अति को पहुँच कर अपने विनाश का आयोजन स्वतः उत्पन्न करने जा रही है।

क्या कहा मेरे इस कथन से तुम्हें मेरी नीयत बुरी मालूम होती है। अच्छी याद दिलायी, नीयत भी क्या चीज है! अभी

भाव के अनुरूप कर्म का फलाफल

तुम पूछ रहे थे कि प्रकृति का वह सिलसिला न्याय पर चालू है या अन्याय पर? अब याद आयी, नीयत ही के आधार पर प्रकृति कर्म के अनुशासन का सिलसिला चालू रखती है—केन्द्रिय अनुशासन—कर्म के फलाफल का भोगाभोग कराने का तरीका, प्रकृति केवल नीयत के आधार पर चालू रखती है। कर्म के फलाफल भी इसी अच्छी बुरी नीयत के आधार पर बनते-बिगड़ते रहते हैं। नीयत या भाव ही कर्म के बन्धन का आदि कारण है। भाव या नीयत हृदय से सम्बन्ध रखती है—हृदय के चेतन से इसका उद्भव है। इससे इसका चेतनता से सान्निध्य अधिक है। मन या बुद्धि का उद्भव मस्तिष्क से है, जो आत्मा से या जीव से, या उस चेतन से, यदि तुम नास्तिक हो तो, दूर है जिसके होने से तुम में चेतनता है। इसलिये मन विचार भर कर लेता है। खुद की प्रेरणा Initiative उसमें नहीं है। उसके कर्मफल का जो हेतु है वह उसके अधीन नहीं है।

वह चेतन रूप कारण ही हृदय में भाव के रूप में प्रकट होकर हमारे मन में सूक्ष्म विचार को जन्म देता है जो बाद में परिमार्जित होकर मन और बुद्धि द्वारा कर्म में विकसित कर दिया जाता है। आत्मा वह चेतनता है, या वह शक्ति है जिसकी सहायता से तुम जीते हो—जिससे तुम्हारी अन्तरतम भावना नीयत (will) का सम्बन्ध और सान्निध्य बना रहता है। यही चेतनता बुद्धि में सूक्ष्म विचार के उत्पन्न होने का कारण है। पर कारण बनकर भी कर्म से वह परे है—कर्म करते समय जिस भावना से, जिस नीयत से प्रेरित होकर कर्म किया जाता है, उस समय अहंभाव को लेकर कर्ता की जैसी भावना बनी रहती है—जिस आन्तरिक इच्छा से कर्म किया जाता है वैसा ही उसके सद्-असद् होने के अनुरूप उसका फलाफल प्रकृति उसे प्रदान करती है। इस तरह अहंभाव से मिश्रित व्यक्ति की नीयत को स्वतः आधार मानकर प्रकृति के अनुशासन का काम चालू रहता है—कर्म का सिलसिला—फलाफल का उपभोग होता रहता है। नीयत सब कर्मों के फलाफलों को व्यक्ति की अहंभावना के अनुरूप बना देती है, क्योंकि वह हमारी चेतन-शक्ति की आत्मा से सान्निध्य रखती है। इसी से प्रकृति की इच्छा-शक्ति से प्रेरित होकर अपने नियमों के अनुसार उसको फलाफल प्रदान करती है।

हाँ, तो इससे यह न समझो कि मेरी नीयत खराब है—मेरी नीयत सत्य को छिपाकर झूठ को ऊपर लाने की है। सत्य तो समय से सत्य साबित ही होकर रहता है। लेकिन सत्य दो तरह का है—एक परिस्थिति और समय के अनुसार हम अपने समाज के सुभीते के लिये सत्य का रूप मान लेते हैं, और उसके प्रतिकूल रूप को असत्य कहने लगते हैं, जो दूसरे समाज में उसके अनुरूप न होने के कारण असत्य कहा जाता है। लेकिन इसके अलावा भी एक सार्वभौम सत्य है, universal truth है, जो हर समाज की भलाई के लिये आवश्यक है। वह किसी भी काल में—किसी भी प्रदेश और परिस्थिति में विकृत रूप का नहीं बनता और न किसी समाज के सामने ही निन्द्य माना जाता है। तो मैं दोनों सत्यों को मानता हूँ। मैं तुम जैसा नास्तिक नहीं—स्वार्थी नहीं कि केवल अपनी ही भूख देखूँ और दूसरे की नहीं। तुम ठोस सत्य को छोड़कर कल्पना सागर में तैरने लगते हो—ठोस सत्य को भूल जाते हो—या भूलते नहीं तो उसे अपने अनुकूल बना लेने की गरज से सामाजिक विषमता की डुग्गी पीटकर सत्य को छिपा देना अवश्य चाहते हो। अपनी आज तक की धाँधली और नासमझी को कायम रखना तुम्हारा कर्तव्य-सा हो गया है। किन्तु भूख की विषमता इन वादों से टाले नहीं टल सकती। उसको किसी न किसी तरह सम पर लाना ही होगा। क्या कहते हो—कि इससे कर्मसिद्धान्त उठ जायगा और प्रकृति का राज्य उठकर मानव-राज्य स्थापित हो जायगा? ठीक कहा जी, बड़े तुक

भविष्यवाणी

की बात कही! तुम कर्मसिद्धान्त के उठने का व्यंग कसते हो? लेकिन मैं कहता हूँ कि इस कर्म-सिद्धान्त का पूर्ण न्याय तभी प्रमाणित होगा जब भूख की विषमता सम पर आ जायगी। मनुष्य की कल्पना के अनुसार भूख की विषमता भले ही कभी हल न हो, किन्तु कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भोज्य भोजक और भोजक भोज्य समय-समय पर पारापारी अवश्य बनते रहेंगे। इसे तुमको या हर किसी को किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ेगा। मैं भोजक बनकर इतने दिनों तक निर्बलों को भोज्य बनाये रहा तो क्यों कर्मसिद्धान्तानुसार भोज्य-निर्बल सबल बनकर कभी मेरा भोजक नहीं बनेगा? मुझ भोजक को निर्बल बनाकर स्वतः मेरा सबल भोजक नहीं बन जायगा? इस तर्क के सामने तो कट्टरपन्थी को भी नतमस्तक होना पड़ेगा। न भी उसका माथा नवे—तो निर्बल कब उसे नवाए बिना छोड़ेगा?

किन्तु भूख की विषमता मशीन की बहुलता से है, यह भी तो तुम इनकार नहीं कर सकते। मशीन ने श्रमिक का श्रम छीन कर उसे कतिपय मनुष्यों के हाथों में दे दिया है। इससे काम की मँहगी और वस्तु की बहुलता होकर भी वह बहुलता, चन्द धनिकों के हाथ में होने के कारण, निर्धन श्रमिक के उपभोग की वस्तु नहीं रही। उसके उपभोग को प्राप्त करने के लिये धन की आवश्यकता है। पर श्रमिक का धन उद्योग-धन्धा से, कला-कौशल के जरिये पैदा होता है। परन्तु उद्योग-धन्धा और कला-कौशल, मशीन की प्रतिद्वन्द्विता के जरिये, श्रमिक के हाथ से पहले ही छीन लिये जाते हैं। अब उसके अभाव में—बेकारी की दशा में—गरीब श्रमिक उस मशीन निर्मित विपुल वस्तु को पाने के लिये

पैसा पावे तो कहाँ से पावे ? प्रतिद्वन्द्विता करे तो कैसे करे ? और अपनी भूख का साधन खोजे तो कहाँ और किस तरह से ? इसी लिये तो भूख की विषमता का निवारण श्रम के अपहरण को—मशीन द्वारा अपहरण को—नष्ट किये बिना, तथा श्रम को नये सिरे से फिर समवितरण किये बिना और मशीन की प्रतिद्वन्द्विता को सीमा के भीतर लाये बिना असम्भव है। वह किसी भी दूसरी तरह से ठीक नहीं की जा सकती। और मशीन का अन्त ? केवल सिद्धान्त की वक्तृताओं के प्रचार से सफल नहीं होने को। उसको सफल करने के लिये तो प्रकृति को अपने ही कठोर दण्ड को उठाना पड़ेगा ; और न्याय का वह दण्ड उठ भी गया है—उसकी आयोजना शुरू भी हो चुकी है। मशीन की अतिशय बढ़ती ही—विध्वंसकारी शस्त्रायुध की अतिशय उत्पत्ति ही—मानव समुदाय को एक दिन स्वयं मरमिटने के पथ पर अग्रसर कर देगी। तुरत भारतीय महाभारत की तरह, जिसके पूर्व ऐसी ही विषमता, ऐसे ही मशीनवाद जड़वाद, ऐसे ही अत्याचार और उत्पीड़न का बाज़ार सर्वत्र गर्म था, संसारव्यापी एक महाभारत होगा और मशीन-युग का अन्त उसी विश्व-संग्राम के अन्त के साथ—उसी रणभेरी की विलीनता के साथ-साथ होगा। और तब, जैसे महाभारत के बाद मानव-समाज के लिये गीता की जरूरत पड़ी थी—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहा गया था, वैसे ही, नवगीता की या उसी पुरातन गीता की व्यवस्था स्थापित होगी, जब जड़-प्रधान जीवन के स्थान पर धर्म-प्रधान जीवन आदर्श माना जायगा और समाज के परिवर्तन के साथ-साथ तब युग का भी परिवर्तन होगा। कुछ काल के लिये

फिर संसार भूख की विषमता और भेद को—कुछ अपने सर्व संहार से, कुछ अपने पूर्ण प्रायश्चित से और कुछ संख्या की कमी की वजह से—भूल जायगा।

तुम मुझको भक्षक जमीन्दार न कहते हो! भला विचार कर कहो तो भक्षक के इस प्रलाप में तुमको कुछ तथ्य दीखता है कि नहीं? यदि नहीं तो मैं ठट्ठा मार-मार कर हँसने लगूँगा—खूब ज़ोर-ज़ोर से हँसता रहूँगा। और तब तुम्हारी भूख के पागलपन की यह हँसी आप ही आप मेरी हँसी के प्रभाव से, खुश होने की—हँसने की इच्छा-शक्ति की प्रबलता से, फिकी पड़ जायगी। और तुम्हारी आँखें तब खुल जाएँगी। तब मैं रोने लगूँगा और तुम हँसने लगोगे। मेरी हँसी अब तुम्हारे मुख पर जानेवाली है। इसी से मेरे कुकर्मों ने इसकी घोषणा की है और तुम्हारे सुकर्मों ने इसकी गवाही दी है। इससे मेरे कहे कर्म-सिद्धान्त के अनुसार तुम हँसनेवाले हो और मैं रोनेवाला हूँ। तुमने आज पहली बार हँसकर न्यायी प्रकृति के न्यायी कोर्ट से, अपनी भूख की विषमतावाले केस में, जिसमें तुम निर्बलवादी और मैं सबल प्रतिवादी था और जिसमें भूख की ज्वाला का सम-सम वितरण कर देने की तुम्हारी प्रार्थना थी, अभी अपने पक्ष का निर्णय लिया है। पेट की भूख अब धनिकों को अधिक और गरीबों को कम लगेगी। इतने दिनों तक धनिकों के हिस्से में पेट की भूख की मात्रा कम थी, पर अब उसकी मात्रा गरीबों के पास कम और धनिकों के पास अधिक रखी गयी। धनी अब गरीब, और गरीब अब धनी बनाये गये। हम धनिकों की हँसी तुम गरीबों को दी गयी, और तुम गरीबों का रुदन हम धनिकों

तब तक मानव प्राणी के हृदय के भाव बाहर नहीं किये जा सकते। स्वर और व्यञ्जन का संयोग शब्द के सृजन का कारण है और शब्दों का जुलूस (Procession) वाक्य का स्रष्टा है तथा वाक्य मनुज प्राणी के हृदय भाव के बाहर आने के जरिये हैं। वाक्य ही की सीढ़ी पर चढ़कर तो भाव आज हृदय से बहिर्भूत हो सकता है तब भला एक अक्षर, एक स्वर, एक व्यक्ति इस समूह-वादी जड़ युग में, समूह की सहायता के विना अपना भाव किसी को कैसे समझा सकता है ?

समाज ने समूह को अपनाकर इतना प्रधान बना दिया कि आज बिना समूह की सहायता के अकेला व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। वैसे ही भाषा ने भी स्वर और व्यञ्जन को सर चढ़ाकर इतना ऊँचा उठा दिया कि वहाँ अब एक की गुजर नहीं—एक स्वर, एक व्यञ्जन, एक व्यक्ति से कुछ बोध ही नहीं हो सकता। सूत्रों के समय तक एक और अल्प की क़द्र थी। अल्प बहु से प्रधान होकर भी बहु के सामने नतमस्तक था। अब समाज की तरह भाषा में भी प्रधानता अल्प की नहीं रही वहु की है। जब दर्शन के अल्प सूत्रों ने अपनी जटिलता और अबोधता से भाष्यों की संख्या बढ़ा दी, तब भाष्यों की ही, व्याख्या की ही, वहु की ही प्रधानता हो गई।

व्यक्ति और समूह

इसी से तो आज भाषा का व्यक्ति अपने अन्य साथियों की सहायता के विना कुछ नहीं कर सकता। भाषा का एक व्यक्ति, भाषा का एक अक्षर, अपने सजातीय समूह के विना समूहवादी

मानव समाज को अपना अर्थ समझा नहीं सकता। उसको ऐसा करने के लिये अपने समूह की सहायता की आवश्यकता है। हृदय के भाव को समझाने के लिये समूह की प्रतीक्षा? कितने दुःख की बात है यह? पर समूह व्यक्ति के अर्थ और ज्ञान को समझने-समझाने की योग्यता कहाँ रखता है? व्यक्ति और समूह की योग्यता का अन्तर आसमान ज़मीन का अन्तर है। व्यक्ति केवल एक भावमय संकेत से, एक दर्द भरी कराह और वेदना भरे अश्रुपात से, समूहवादी संसार के सामने हृदय की वेदना को, वेदना की उस टीस को जिसको समूह-प्रधान भाषा व्यक्त नहीं कर सकती—नहीं समझा सकता। उसको यदि हृदय के दर्द को बाहर करना आवश्यक है तो समूह बाँधकर मरण की जयन्ती मनावे; श्रोता का समूह बटोर कर ओजस्वनी भाषा में भाषण दे; बाँह पर काला कपड़ा बाँधकर जलूसों और दावतों में, नाच और डैंसों में शरीक होवे तब उसके हृदय को, व्यक्ति के व्यक्तित्व के सुख-दुःख को संसार सुनने और समझने का स्वांग भरेगा, अन्यथा नहीं। इसी से एक दर्द भरे 'की' के उच्चारण को केवल एक व्यक्ति के मुख से सुनकर तुम समूह के साथ हँसने लगते हो। किन्तु तुम या तुम्हारा समूह कभी भी हँसने की हिम्मत नहीं करता, यदि इसे किसी एक भी समूह का समर्थन प्राप्त रहता। आज समाज में समूह का बोलबाला है, इससे व्यक्ति निर्बल है। पर प्रकृति के जंगल में आज भी व्यक्तिवादी सिंह सदा दहाड़ा करता है। वहाँ समूहवादी मनुष्य अपने दलबल के साथ जाकर भी एक बार थर्रा उठता है।

तो व्यक्ति में शक्ति होनी चाहिये। फिर लाख समय का फेर

क्यों न हो, समूह तो आप ही आप उसके सामने नतमस्तक हो घुटना टेक देगा। व्यक्ति ही तो समूह का स्रष्टा है। एक व्यक्ति ईश्वर ने सृष्टि बनाई, एक व्यक्ति मनु ने समाज बनाया; और एक ही व्यक्ति आज भी देश का निर्माता तथा जीवन-दाता होता है। धर्म, ज्ञान, विज्ञान, जीवन, जब कभी भी समाज को मिले हैं तब व्यक्ति के द्वारा न कि समूह से। समूह या समाज ने कोई आविष्कार, कोई नया सिद्धान्त न कभी आविष्कृत ही किया और न निरूपित ही। फिर व्यक्ति के ऊपर समूह की प्रधानता कैसी? इसीलिये न कि समूह मिलकर अपने जड़ शरीर के बल से व्यक्ति को मार सकता है। पर इस शक्ति से भी वह रहित है। यदि ऐसी शक्ति रहती तो समूह आज भूखा न रहता, चन्द व्यक्तियों के इशारे पर सदियों से पशु ऐसा नहीं नाचा करता। इसी से कहता हूँ कि व्यक्ति का विकास समूह के विकास से सदा प्रबल और उन्नत रहा है। आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। परन्तु तुम्हारा संस्कार ही आज समूहवादी संस्कार हो गया है। इसी से प्रेरित होकर समूह की खोपड़ी आज औंधी हो गयी है, जिससे वह व्यक्ति के व्यक्तित्व को अपने स्वार्थ की माप से मापने लगा है।

समाज के नियमोपनियमों के आदी हो जाने की भावना की अतिशयता को संस्कार कहते हैं। संस्कार ही स्वभाव के भी सृजन का कारण है। और शायद स्वभाव और संस्कृति में अधिक भेद भी नहीं है। मनुष्य एक जातीय प्राणी है। उसकी संस्कृति और स्वभाव भी एक होने चाहियें, पर ऐसा नहीं है। आज

संस्कार और धर्म्म

संस्कृतियाँ अनेक नहीं बहुत हैं। हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, ईसाई, यहूदी आदि-आदि संस्कृतियाँ केवल मनुष्य नामधारी एक जाति के प्राणी की ही तो संस्कृतियाँ हैं ? कितने आश्चर्य की बात है ! कैसी अद्भुत और जटिल यह समस्या है !! एक ही से मा-बाप का—एक ही गाँव, हवा-पानी और अन्न-जल का पोसा हुआ, तथा एक ही हाड़-माँस का बना हुआ मानव-पशु, १०० गज की दूरी पर के मुसलमान के घर में मुसलमान संस्कृति का, इतने ही फासले पर के दूसरे घर में हिन्दू संस्कृति का, और दोनों को मिटाकर उसी मुहल्ले में, गाय-सुअर दोनों को खानेवाले ईसाई के घर में एक तीसरी ईसाई-संस्कृति का है !!!

समूह के अज्ञान और व्यभिचार ने जब-जब उसको पतन की पराकाष्ठा तक पहुँचाया है, तब-तब एक न एक ईश्वर-अंशी व्यक्ति ने जन्म लेकर उसको, उसकी पतितावस्था के सुधार के लिये, सत्य की ज्योति दिखलाकर धर्म्म का उपदेश दिया है। परन्तु उस समय उस उपदेश से अपनी पुरानी पतित प्रणाली का सुधार तो समूह कर लेता है, पर सत्य को पूर्ण-रूप से पहचान न सकने के कारण ; अपने व्यक्तित्व को समझने के योग्य न बना सकने की वजह से वह उस उपदेश को संस्कृति के नये साँचे में ढाल कर नया रूप ही दे डालता है ; जो बाद में, अन्य पूर्ववर्त्ती सत्योपदेशों से भिन्न ज्ञात होने लगता है और मानव संघर्ष का मुख्य कारण बन जाता है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। ईश्वर-अंशी व्यक्ति के दिये गये संदेश के मुख्य आधार मुख्य सत्य सदैव भेद-रहित हैं। जो अन्तर या बाह्य भेद दिखलाई पड़ता है, वह स्वरचित संस्कृति के व्यभिचार में ही है ; सन्देश के आधार

रूप दिव्य सत्य में नहीं। ईश्वर अंशी महात्माओं में या उनके सन्देश के आधार भूत मुख्य सत्य में न कभी भेद रहा है और न कभी होगा ही। हाँ, समूह के वाह्य चक्षुओं में यदि कोई ऐसा अन्तर दिखाई भी पड़े तो वह उसके चक्षु के भ्रम, या व्यभिचार को अपनाने के अभिप्राय से आततायी द्वारा किये गये भिन्न-भिन्न अर्थ के भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के कारण ही वैसा प्रतीत होता है। दिव्यवाणी का आधार सत्य है, जो सदा सब काल में एक है—अखण्ड है। उसके उपकरण में चाहे जो भेद, समय, प्रकृति और स्वार्थ से समूह या व्यक्ति-विशेष को दृष्टि-गोचर हो, पर वह है भेद रहित ही।

पर शोक ! ऐसे महात्माओं को भी अपने व्यभिचारी मस्तिष्क से स्वार्थ की गुटबन्दी में बाँटकर मनुष्य आज कैसा प्रलयकारी खेल खेल रहा है !! विन्ध्य पर्वत का रीछ ध्रुव ज़ोन के रीछ के सामने सूरत-शकल और आकार-प्रकार में भिन्न होकर भी एक ही संस्कार का—एक ही स्वभाव का रीछ होता है। परन्तु यह मनुष्य-नामधारी सभ्य प्राणी एक ही घर में—एक ही गाँव और मुहल्ले में, अनेक संस्कार का—अनेक स्वभाव और संस्कृति का हो रहा है। यह समाज का, मानव विकास का कैसा उपहास है ? कैसी विडम्बना है ? इसमें मानव संस्कृति उन्नति के पथ पर है या अवनति की ओर, यह कौन बतावे ?

उन्नति-अवनति दो ऐसे शब्द हैं जिनको समाजवादी मानव-पशु ने अपने समाज की रक्षा के लिये आविष्कृत किया है।

उन्नति और विकास

प्रकृति के पास, इसी अर्थ में, दूसरा शब्द विकास है जो समाजवाले उन्नति शब्द के अर्थ से बहुत ही भिन्न अर्थ रखता है। विकास में प्रकृति के नियमों के अनुकूल होकर, केवल अच्छाई भर के लिये बिना किसी के अहित के स्वतः विकसित होने का भाव है,—प्रकृति के स्वभाव के समान अन्तर और बाह्य दोनों शान्ति की भावना है। किसी दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता नहीं करने की, दूसरे के संग ईर्ष्या, द्वेष, कलह, कपट, संघर्ष आदि न रखने का संकेत है। पर समाज-जनित उन्नति में प्रतिद्वन्द्विता की भावना भरी पड़ी है। एक को दबा कर, आप आगे बढ़ जाना, अपनी उन्नति दूसरे के विनाश पर कर लेना—बस उन्नति शब्द का आज मुख्य अर्थ यही है, दूसरा नहीं।

इस उन्नति की आज समाज में हर जगह, हर क्षेत्र में आवश्यकता पड़ गयी है। इसी से संस्कृति विभेद में भी प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी है। सभी अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलाप कर आगे-बढ़ना चाहते हैं। संस्कृति का विभेद, हृदय के भाव का विभेद हो, सो बात नहीं है। भीतरी भाव और अनुभूति तो मानव प्राणी की सर्वत्र एक ही हैं। क्योंकि वे मानव प्रकृति के भीतरी स्वरूप से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। पर मनुष्य की संस्कृति कृत्रिम है। अतः कृत्रिम संस्कृति का मूल्य स्वाभाविक जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के लिये लाभप्रद नहीं—हानिकर ही हो

सकता है। कृत्रिमता स्वाभाविकता के विकास में सदैव बाधक है साधक नहीं—दोनों शब्द परस्पर विरोधी भाव के द्योतक हैं। लेकिन समाज इसको मानकर भी इसके अनुसार नहीं चलता क्योंकि इसके अनुसार चलने में उसके शैतान की हेंठी है—उसकी सभ्यता की निन्दा है। समाज में कृत्रिमता का बाहुल्य शैतान के राज्य की प्रधानता का बोधक है। समूह ने शैतान को आज अपना इष्टदेव इसलिये बना रखा है कि इसकी पूँजी से उसकी ऐहिक वासना की तृप्ति होती है। जब समूह शैतान के राज्य से छुटकारा पा जायगा तब वह खुद ही समूह न रह जायगा–समूह के रोग का निदान करनेवाला व्यक्ति बन जायगा। व्यक्ति का विकास समूह के विकास से सदा ऊँचा रहा है, आज भी है, और भविष्य में भी रहेगा। समूह व्यक्ति के इतना त्याग, साधना, प्रेम, अहिंसा, सत्य आदि का पालन कर नहीं सकता ; पर व्यक्ति ने अपनी साधना से, अपने प्रेम और त्याग से शैतान को मार करके अपने को विकास की चरम सीमा पर पहुँचाया है, आज भी पहुँचा रहा है और भविष्य में भी पहुँचावेगा। अतः तुम समूह की प्रधानता व्यक्ति पर कैसे साबित कर सकते हो ? ऐसा प्रयत्न करना तुम्हारी हेंठी ही नहीं नादानी और मूर्खता भी है।

लेकिन माफ करो, भूल गया था। तुम्हारा संस्कार ही आज ऐसा हो गया है कि अपने प्रतिकूल बातों को सुनकर तुम हँसने लगते हो। संस्कृति-विरोधी बातें यदि तुम्हारी अन्तस्तल की आत्मा की वास्तविक भूख को दूर करनेवाली भी हों तो भी वे तुम्हारे सामूहिक संस्कार के विरोधी होने के कारण तुम्हारे सामने हास्यास्पद हैं। तुमको भूख लगी है ; प्यास से जेठ की दुपहरी

में तुम मर रहे हो, लेकिन तुम अपने ही जैसे मुसलमान भाई के यहाँ उसकी तृप्ति नहीं कर सकते। यही तुम्हारा विकृत संस्कार है, यही तुम्हारी झूठी संस्कृति है और इसी से तुम हमारे इस 'की' शीर्षक सत्य प्रलाप को सुनकर मुस्कुरा देते हो—हँसने लगते हो।

तुम नहीं जानते कि 'की' सम्बन्धकारक के तीन प्रधान चिह्नों में से एक चिह्न है। सम्बन्धकारक का स्वभाव एक को दूसरे से मिलाना—एक का सम्बन्ध दूसरे से स्थापित करना है। अक्षर और शब्द के इसी मिलन में अर्थ का सृजन होता है, भाषा का निर्माण और भाव का बोध होता है। दो को मिलाना—दो का मिलाप करा कर सृष्टि का काम चालू कर देना—कितनी सुन्दर बात है; कितना इसमें लोक-संग्रह का भाव छिपा हुआ है।

हाँ, तो दो शब्दों का सम्बन्ध सम्बन्धकारक से होता है। वह दो का सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें एक तीसरे अर्थ से बाँध देता है। जैसे दो अणुओं का सम्मिलन—दो परमाणुओं का मिलाप—एक तीसरी वस्तु के निर्माण का कारण बनता है; वैसे ही दो अक्षरों का, दो शब्दों का संयोग एक तीसरे शब्द का तीसरे अर्थ का निर्माता होता है; तो इतने महत्वशाली इस सम्बन्धकारक के तीन प्रधान चिह्नों में से यह स्त्री वाचक चिह्न 'की' कितना गुरु—कितना जटिल और कितने महत्व का है! इतने महत्व की वस्तु पर तुम्हारी इतनी महत्वहीन हँसी? इस महत्वपूर्ण विषय पर इस महत्व-हीन हँसी को हँस देना ही तुम्हारे मस्तिष्क के ढीलेपन का द्योतक

है। तुम्हारी कृत्रिमता ने तुम्हारे दिमाग को आज निरा खोखला और हल्का बना दिया है। उसमें प्रकृति की स्वाभाविकता की वे विशेषताएँ अब नहीं रहीं, जो अपने पीछे ठोस सत्य के अर्थ का—गम्भीरता के वृहद् दबाव का भारी वजन उठाये रहती हैं। और जो हँसती हैं तो एक अनोखी गम्भीरता के साथ—सत्य के सारे वजन को अपने ऊपर लेकर इस सादगी से, इस पवित्रता और दृढ़ता से कि प्रकृति की सारी सरलता उसकी एक ही हँसी से भड़ने लगती है। पर तुम्हारी इस छिछोरी हँसी के इस बौखलाहट मिश्रित अट्टहास में वे बातें कहाँ हैं? नहीं जानते जलतरङ्ग के कटोरे के स्वर की तरह हँसी हृदय के वजन और हल्केपन को अपने स्वर से स्वयं बता देती है। पर तुम्हारी इस उच्छृङ्खल हँसी पर मुझे भी तरस की हँसी आये बिना नहीं रहती। क्या करूँ, संसार की इस कृत्रिम हँसी को देखकर शोक और तरस की हँसी आ ही जाती है।

अच्छा तो सुनो, इस स्त्रीवाचक 'की' कारक का सम्बन्ध पुस्तक के इस प्रलाप से बहुत अधिक है और बहुत बड़े अर्थ का यह द्योतक भी है। इस 'की' का सम्बन्ध भूख और ज्वाला के मिलाप का कारण है। एक तो भूख स्वयं ही एक जलन है, फिर ज्वाला से उसका मिलन और मिलाप! कितना आकर्षक, कितना मोहक और भयानक, इस पद-समूह का—इस 'भूख की ज्वाला' का सृजन होगा! इसमें कृत्रिमता नहीं, पर स्वाभाविकता खूब रहेगी और खूब सामञ्जस्य भी। एक ही जाति के दो शब्द स्त्रीवाचक 'की' द्वारा सम्बन्धित करा दिये जायँ और किसी महान अर्थ का सृजन न हो, यह असम्भव है। भाषा में शब्दों के मिलाप

का अर्थ ही तो सृजन का दूसरा मानी है। फिर स्त्री-कारक द्वारा इन दो शब्दों का—भूख और ज्वाला का मिलाप किस अर्थ के गर्भाधान का कारण बनेगा, यह तुम शायद तब तक अपनी कृत्रिम और हलकी खोपड़ी से नहीं जान पाओगे, जब तक वह गर्भ स्वयं अवतीर्ण नहीं होगा। शब्द के मिलाप से या अक्षर के संयोग से अर्थ का गर्भ में आना कोई नई बात नहीं है। तुम मुस्कुराते क्यों हो? इसीलिये न कि मैंने गर्भाधान की बात कही? पर तुम स्यात नहीं जानते, बिना गर्भ के कहीं भी सृजन नहीं होता; चाहे वह गर्भ मन में हो, आकाश या हवा में हो, पिण्ड अथवा विचार में हो; गर्भ होगा कहीं न कहीं अवश्य, तभी सृजन होगा। गर्भ होकर सृजन न हो यह दूसरी बात हो सकती है, सम्भव भी मानी जा सकती है। किन्तु बिना गर्भ के सृजन भला सम्भव कैसे हो सकता है? तो भूख शब्द के साथ ज्वाला का मिलाप होने से उस अर्थ का गर्भाधान होगा, जिस अर्थ का सूत्रपात सूर्पणखा की नककटी पर लंका में कभी हुआ था। और तब लंका की वह दहन-लीला भूख की इस ज्वाल-लीला से बढ़कर कैसे और क्यों कही जायगी? इसका गर्भाधान जब पुष्ट और पूर्ण होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण होगा, तब शिव का तृतीय नेत्र खुल जायगा, शृङ्गी बजने लगेगी, पाँव उत्क्रान्ति ताल पर थिरक उठेंगे, शिव नाचने लगेंगे, महानन्द का महानृत्य—ताण्डवनृत्य शुरू हो जायगा, त्रिशूल चमकेगा, शेष फुफकारेगा, एक एक ताल-पर असंख्य-असंख्य तारे टूटेंगे, एक एक दृष्टिपात पर अगणित सूर्य-मण्डल भस्मीभूत होंगे; और हुङ्कार-हुङ्कार पर धरातल फटेगी, ज्वाला निकलेगी, धारायें बहेंगी, पाप-पुण्य भस्म होंगे,

और इस प्रकार महानन्द का महाप्रकम्पन महाप्रलय के महोल्लास में शान्त होगा ; और तब उस शान्ति से कल्याण-कारिणी सृष्टि का पुनः उद्भव होगा। किन्तु भूख की ज्वाला का समाज तब नहीं रहेगा, समाजी !

दिलीपपुर
२०-८-३८

(तृतीय सर्ग)

ज्वाला

ज्वाला ? दीप की ज्वाला और अग्नि की ज्वाला ? भेद स्यात् दोनों में बहुत कम है—बहुत ही कम। दोनों में प्रकाश है ; जलन और जलाना समान ही है। दीप-ज्वाला जलती है, तरल-तैल पर ; जो पीस कर कभी निकाला गया था, सरसों के हृदय से—सरसों के जीवन से—रक्त से। अग्नि ज्वाला जीती है काष्ठ की लकड़िओं पर ; जो वृक्ष के जीवन से—वृक्ष के अरमानों को नष्ट करके—टुकड़े-टुकड़े करके कभी जंगल से लाये गये थे। बस अन्तर, दोनों में इतना ही सा है। नहीं तो दोनों ज्वालाओं का जीवन, दोनों ज्वालाओं की जलन और दाह, तेज समान ही तो हैं। दूसरों को जला कर आप जलना और प्रकाशित होना ही तो ज्वाला का सच्चा नाम है। प्रकाश और ज्वाला में यही तो भेद है। ज्वाला में प्रकाश है सही पर अपने और दूसरे के जलने का, पर प्रकाश में केवल अन्तः शान्ति की ही तो ज्योति है, जो दिव्य है—सुखद और पवित्र है। उसमें दाह नहीं, जलन नहीं, केवल शान्ति है, सौम्यता है। फिर ज्वाले ! तुम अपने हृदय में इस दिव्य प्रकाश को रख कर ऐसी छिछोरी—ऐसी हेय—क्यों बनी ? ऐसी वृत्ति क्यों पायी ? केवल दूसरों को जलाना और

और इस प्रकार महानन्द का महाप्रकम्पन महाप्रलय के महोल्लास में शान्त होगा ; और तब उस शान्ति से कल्याण-कारिणी सृष्टि का पुनः उद्भव होगा। किन्तु भूख की ज्वाला का समाज तब नहीं रहेगा, समाजी !

दिलीपपुर
२०-८-३८

(तृतीय सर्ग)

ज्वाला

ज्वाला ? दीप की ज्वाला और अग्नि की ज्वाला ? भेद स्यात् दोनों में बहुत कम है—बहुत ही कम। दोनों में प्रकाश है ; जलन और जलाना समान ही है। दीप-ज्वाला जलती है, तरल-तैल पर ; जो पीस कर कभी निकाला गया था, सरसों के हृदय से—सरसों के जीवन से—रक्त से। अग्नि ज्वाला जीती है काष्ठ की हड्डिओं पर ; जो वृक्ष के जीवन से—वृक्ष के अरमानों को नष्ट करके—टुकड़े-टुकड़े करके कभी जंगल से लाये गये थे। बस अन्तर, दोनो में इतना ही सा है। नहीं तो दोनों ज्वालाओं का जीवन, दोनों ज्वालाओं की जलन और दाह, तेज समान ही तो हैं। दूसरों को जला कर आप जलना और प्रकाशित होना ही तो ज्वाला का सच्चा नाम है। प्रकाश और ज्वाला में यही तो भेद है। ज्वाला में प्रकाश है सही पर अपने और दूसरे के जलने का, पर प्रकाश में केवल अन्तः शान्ति की ही तो ज्योति है, जो दिव्य है—सुखद और पवित्र है। उसमें दाह नहीं, जलन नहीं, केवल शान्ति है, सौम्यता है। फिर ज्वाले ! तुम अपने हृदय में इस दिव्य प्रकाश को रख कर ऐसी छिछोरी—ऐसी हेय—क्यों बनी ? ऐसी वृत्ति क्यों पायी ? केवल दूसरों को जलाना और

आप प्रकाशित होना, अपना प्रकाश—अपना जीवन—अपना आलोक दूसरों के जीवन पर—दूसरों के नाश और विध्वंस पर ! छिः ! छिः !! छिः !!! तुम कितनी हेय हो, ज्वाले ? ज्वाला तो नाम बहुत सुन्दर है ; प्रकाश के अर्थ में मानी भी सुखद है। तो क्या बुरे के साथ अच्छे का निवास बुरे को अच्छा बनाने के लिये नहीं, बल्कि बुरा ही बनाने भर को होता है ? किन्तु ऐसी बात तो है नहीं। तो क्या बुरा बिना अच्छाई के जो रह नहीं सकता, इसीलिये ज्वाला के साथ प्रकाश है—जलन के साथ आनन्द है—उत्पीड़न के साथ आलोक है ? होना तो चाहिए था अन्धकार ही न ? यह उलटी बात क्यों ? तो क्या इस ज्वाला में प्रकाश है, इसलिये प्रकृति का रहस्य उलटा है ? प्रकृति का नग्न रूप तो सीधा है न ? उत्पीड़न में तो अन्धकार ही अन्धकार है न ? उसका आच्छादित रूप ही तो रहस्य-मय होकर उलटा दीखता है ? नग्न रूप में रहस्य कहाँ ? महा-प्रलय के बाद जब मनु ने श्रद्धा को त्यागकर ईडा से साक्षात्कार किया, तभी रहस्य उत्पन्न हुआ। इसके पूर्व तो प्रकृति का नग्न-रूप ही था न ? सब सीधी बात थी। ज्वाला का तब स्यात् सीधा अर्थ प्रकाश ही था। जलना और जलाना नहीं।

समाज का जन्म, ऊँच-नीच का भेद, बटवारे का प्रश्न, बस, रहस्य की उत्पत्ति ! उलटी बात !! समाज ने मनुष्य की खोपड़ी औंधी कर दी। कभी प्रकृति ने उसे सीधी रखी थी ; किन्तु भगवान् मनु ने समाज को जन्म देकर उसको उलट दिया। तब से आज तक यह उलटी ही चली आ रही है और समाज का रहस्य दिन-दिन रहस्यमय होता चला जा रहा है। इसी से

तो मैं कह रहा था कि क्योंकि ज्वाला में प्रकाश है, इसलिये प्रकृति का रहस्य उलटा है। भगवान् कृष्ण ने कभी कहा था—'गरीव विद्वान् ब्राह्मण के घर पुण्य से जन्म होता है।' वे भगवान् न ठहरे! राजा के घर जन्मे, माखन दूध में पाले-पोसे गये और अन्त में पटरानियों के अञ्चल पर शयन किये। वे वेचारे सुदामा के पेट की ज्वाला क्या जानें? ज्वाला से जलकर ही तो ज्वाला की परिभाषा की जा सकती है? ज्वाला में जो प्रकाश की उत्पत्ति मानते हैं, ज्वाला में जो केवल दहन के अन्धकार को न मानकर दिव्यालोक को जन्म देनेवाली वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनके सामने प्रकृति का रहस्य उलटा है, सीधा-साधा नहीं। वहाँ प्रकृति अपने नग्न रूप में नहीं, आच्छादित रूप में—सामाजिक रूप में—प्रकट होती है। फिर वहाँ ज्वाला की जो जो व्याख्या क्यों न की जाय! व्याख्याकार, समाजनिर्माता तो ज्वाला से जला नहीं न होता है। उसको जलनेवालों की व्याख्या करनी और उसके लिये नियम, उपनियम भर वनाना रहता है। रोशनी जलती है—ज्वाला की लपट उठती है—असंख्य पतङ्ग चतुर्दिक से घेरकर उस ज्वाला की लपट पर—जन प्राण विसर्जन कर रहे हैं और आप वैठकर उसी मरण के उजाले में उन्हीं जलनेवाले पतङ्गों की जलनविधि की व्याख्या करो, नियम उपनियम वनाओ, शास्त्र वनाओ, पुराण वनाओ, कला और कौशल दिखाओ! परन्तु उनकी जलन-विधि को लेकर ही तो यह सव उपाख्यान हैं। अपनी जलन की घोर अन्धकारपूर्ण वेदना से व्याकुल होकर, ज्वाला की जलन में—उत्पीड़न की व्यग्रता में उसका मर मिटना ही तो समाजनिर्माता के सामने नियम उपनियम

तथा समाज बनाने की सामग्री है ?

हाँ, तो कह रहा था। ज्वाला के सम्बन्ध में भूलकर चला आया समाजनिर्माता के सामने। जलन में भूल है। भूल ही तो जीवन है। जीवन बनाने का सब से सरल तरीका जीवन को भूल जाना है। भूल की मस्ती जीवन की मस्ती है। 'भूख की नहीं', 'भूल की मस्ती' मैंने कही। तुमने 'भूख की मस्ती' कैसे सुन ली ? अजीब आदमी हो ! भूखे न हो, इससे तुमको भूख ही भूख सुनाई पड़ती है। मैंने भूल कही, और तुमने भूख सुन ली।

हाँ, तो भूख में भूल नहीं है नहीं तो तुम भी आज मस्त रहते। भूख तो सर्वत्र से भूलों को भूलाकर, अपना ठोस सत्य, प्रकृति की ठोस माँग सामने ला रखती है। प्रकृति का नग्न रूप ही तो भूख है। तो ये प्रकृति के आच्छादित रूप के आदमी ठहरे, उसके नग्न रूप को ये क्या जाने, जो तुम भूख-भूख बका करते हो ! ठहरो, अभी ये अपनी ज्वाला के साथ मस्त हैं, भूल की मस्ती में जीवन को मस्त बनाने के प्रयत्न में भूल रहे हैं। तुम्हारी बातें सुनने का इन्हें न तो अवकाश है और न समझ ही।

तो कह रहा था ज्वाला की बात ! ज्वाला के प्रत्येक रूप की व्याख्या करके ही तो उसको जाना जा सकता है। सभ्य समाज में बिना विश्लेषण के, बिना व्याख्या के, किसी बात की तथ्यता स्वीकृत ही नहीं होती। और मुझको ज्वाला की तथ्यता सभ्य समाज को समझाने की तुम्हारी ही जैसी धुन है। धुन ही में तो समाज पागल है।

किन्तु शोक! भूखे को धुन नहीं; नहीं तो उसकी दवा बहुत सरल थी। धुन तो भूख के परे की वस्तु है। एक इसी धुन से ही समाज का रूप है, कला का सौंदर्य्य है, और साहित्य का जीवन है। बिना धुन के जीवन कहाँ? लोग कहते हैं—'धुन भर पैदा कर लो, अपने दिल और दिमाग में; बस, सब ठीक है।' बच्चे को यही धुन उत्पन्न करने की शिक्षा दी जाती है। किन्तु यह धुन, जीवन की धुन, जीवन की गति, तभी तक बनी रहती है जब तक उसमें भूख की आवश्यकता नहीं जगी रहती। भूख के सामने आते-आते धुन भूख के रूप में परिणत हो जाती है, तब कला मर जाती है, समाज नष्ट हो जाता है, नग्न रूप ज्वाला नाचने लगती है। तब ज्वाला को भी इसी भूख की जलन का दूसरा नाम समझो। ओह्! कितना दारुण उच्चारण है इसका, इसमें कितनी तीव्र जलन है! किन्तु समाज-निर्माता इसको नहीं मानता। वह तो ज्वाला को जलने ही तक सीमित रखेगा। अमरकोष महाराज कहते हैं—

'वह्नेर्द्वयोर्ज्वाल कीलावर्चि हेतिः शिखा स्त्रियाम्'

तो उनके अनुसार ज्वाला का नाम अग्नि, लव, प्रकाश, भभक, लपट है; बस, इसके आगे कुछ नहीं। केवल बाह्याडम्बर का अर्थ! कोषकार भी तो नग्न रूप को न देखकर आकाश रूप को ही देखता है। क्या पूछते हो? आकाश रूप? सुनो आकाश के एक सीमित खाका में—परिधि में—अपने शून्यरूप से पृथक हो आ जाने का नाम संज्ञा है। अतः संज्ञा का नाम आकाश है। बस, इतने में चकरा गये थे? व्याख्या की तो समझ में बात आई।

तो ज्वाला में प्रकाश मानकर उसका भी इसी तरह अर्थ किया गया है। पर मैं इसे नहीं मानता, तुम भी उसे नहीं मानोगे। मैं तो उसके नग्न रूप को ही मानता हूँ। तुम भी वस्तुतः इसे अस्वीकार न करोगे। ज्वाला का नग्न रूप जलन है, वेदना का भी नग्न रूप जलन ही है, अतः ज्वाला का नग्न रूप वेदना, रुदन, दाह, अन्धकार, हाहाकार है। बस, इसके परे ज्वाला में न तो कहीं प्रकाश है, न आलोक, और न शान्ति या सुख। कष्ट—एक मात्र कष्ट, तड़पन, और कराह है; चाहे वह ज्वाला अग्नि की हो—दीप की हो—ईर्ष्या, द्वेष, कपट, असत्य तथा पाप की ज्वाला हो अथवा पेट की भूख की जलती हुई ज्वाला हो। सब में बस जलन, तड़पन, रुदन और अन्धकार है। चाहे वह जिस रूप में, जिस अर्थ में, जिस भाव और व्यञ्जना से व्यक्त की गयी हो। सर्वत्र ज्वाला का एक ही अर्थ जलन है; कोपकार का आच्छादित अर्थ प्रकाश नहीं। सृष्टिकार का एक मात्र नग्न अर्थ ज्वाला, जलन, तड़पन, रुदन और मरण है, बस इसके परे कुछ नहीं।

दिलीपपुर
रात-दस बजे
१७-८-३८

●

(चतुर्थ सर्ग)

भूखे की भूख

दीनता, ज़ब्त और सहन

'भूखों बच्चा मर रहा है। कल से कुछ खाया नहीं। बुखार से अभी उठा—औरों ऐसा भूख मार नहीं सकता। उसका दुःख नहीं देखा जाता मालिक! न हो तो कुछ पैसे ही दे दो। अभी तीन तीन माह की मजूरी बाक़ी ही पड़ी है। हम ग़रीब कैसे जीयें? कुछ भी तो ध्यान दो, हाथ जोड़ता हूँ पाँव पड़ता हूँ। न हो, कर्ज़ ही दे दो। मजूरी से सूद-सलामी काट लेना।' ऐसे दीन वचन किस प्रेरणा स प्रेरित होकर तू बोलाता है भूखा? भूख की ज्वाला से जलकर या मनुष्य के धर्म को भूलकर? यदि सचमुच तुझे भूख लगी होती, यदि सचमुच तेरे पास अभाव दूर करने के साधन उपस्थित न होते, यदि तेरी छाती में मनुष्य की आत्मा बोलती होती और हृदय में असली वात्सल्य प्रेम का निवास बना होता, तो तू अपना स्वत्व प्राप्त करने के प्रयत्न में अपना प्राण हँसते-हँसते विसर्जित कर देता किन्तु ऐसी दीन बातें मुख पर कदापि न लाता। जानता नहीं, दीनता पाप है। कर बाँधकर, खीस निकालकर, जूता-लात खाकर, दीनता प्रदर्शित करना

पाप है, पाप ही नहीं, महापाप है। पर तू ने इस महापाप को वारवार किया है और आज भी कर रहा है। इसीसे तू आज तक भूखा बना है; दीन गरीब निर्बल का रूप धारण किया है।

'समाज के आदेश के प्रतिकूल जाना पाप है, कानून का उल्लङ्घन दण्ड का हेतु है; और अपने कर्म का फल चुपचाप भोग लेना मनुष्यत्व है'—ऐसी भावनायें समाजनिर्माता ने, धर्माचार्य्य ने तुम्हारी नस-नस में सदियों से पैठा रखी हैं, और तू अपना यथाकथित स्वर्ग बनाने की लालसा में अपनी विकृति संस्कृति से प्रेरित होकर सच्चे पाप-पुण्य के मानी सुनने और समझने का साहस नहीं करता—उसकी व्याख्या तक सुनने की तुझ में हिम्मत नहीं होती। नहीं तो तू अपने शोषक स्वामी और भक्षक साहु का गला घोंटकर अन्न छीन लेने की आकांक्षा अपने हृदय में जन्म-जन्मान्तर से रखते हुए भी आज क्या इस प्रकार दीन और निष्क्रिय बना रहता? तू अपने इस दारुण यातना को, रौरव नरक-कष्ट को, पशु की तरह निर्जीव बनकर क्यों इस तरह चुपचाप सहा करता है? तेरे बच्चों के मृतप्राय कंकाल और घरवाली की विभत्स नग्नता—उनका मुट्ठी भर अन्न के लिये—वित्ताभर वस्त्र के लिये तेरे सामने, तरस तरस कर रोना और डाट सुनकर पुनः मौन हो जाना क्यों नहीं तेरे सबल हृदय में क्रोध और प्रतिकार की अग्नि भड़काते और तुम्हें अपने स्वत्व को छीन लेने का साहस प्रदान करते? तेरी दीनता की पराकाष्ठा, तेरी विवशता की कायरता, स्वर्ग के लोभ और समाज की माया ने आज तुझे ऐसा बना दिया है कि तू आज अपने एक मात्र प्यारे, भूखे, मरणप्राय बच्चे की उलटी हुई आँखों को—सिसकते हुए

रुदन को चुपचाप देख और सुन लेता है पर मुख से आह तक नहीं निकालता—तथा सामने से जमीन्दार के कुत्तों के लिये जाते हुये घड़ों दूध को छीनकर मरते हुए अपने बच्चे की जान बचाने की इच्छा तक नहीं करता ? उसके महाप्रस्थान के समय भी अपने हृदय-वेदना की दारुण चीत्कार को शुष्क कण्ठ तक पहुँचने के पूर्व ही ठठरियों में टकराकर भीतर ही मौन हो जाने को विवश कर देता है, और मूक बना—अन्तर्ज्वाल से जलता हुआ—शुष्क आँखों से एक कण जल तक उत्पन्न नहीं होने देता ? बल्कि, अपने काँपते हाथों को दृढ़ करके, बेसुध पड़ी हुई पत्नी की गोदी से भावी सजीवता के उस नन्हें से कंकाल को छीनकर, बिना कफन के ही, चिथड़ों के साथ कहीं गाड़ आता है, और दूसरे ही दिन मरी सी गृहिणी को अकेली छोड़कर उसी जमीन्दार की कोठियों में जा डटता है, जहाँ तेरे पसीने की कमाई के अन्न छीनकर राशि की राशि में संचित हैं, जहाँ कुत्तों को तुम्हारी ही चरायी हुई गायों का घड़ों दूध नित्य पिलाया जाता है। यह जब्त, यह सहन किस लिये है, भूखा ? यह चाहे स्वेच्छापूर्वक (voluntary) हो, चाहे अनिच्छा पूर्वक (compulsory) हो—पर यह सब हैं तुझको सह्य अवश्य। तूने इनको सहने का आदी अपने को बना लिया है अवश्य। अपने दीन बनने के पापों से, अपने को मृत समझने के प्रायश्चित्त में यह सब फल तू भोग रहा है। पर आश्चर्य यही है कि इतनी यातना और जलन सहकर भी आज तू जीवित है ! मनुष्य अपमान को सहकर और अपने स्वत्व से रहित होकर इस संसार में क्यों मर मिटता है, यह तू शायद नहीं समझता है। अर्थ के अभाव

में दीनता का प्रादुर्भाव होता है, दीनता में आत्म-सम्मान का नाश है, आत्म-सम्मान की अनुपस्थिति में क्षुद्र स्वार्थ की प्रबलता, स्वार्थ में लोभ, लोभ में मोह, मोह में अज्ञान, और अज्ञान में लज्जा का निराकरण, जो सर्वनाश का एकमात्र कारण है। पर यदि धनाभाव के समय अपनी सद्भावनाओं को मारनेवाली कुमति न उत्पन्न हो, तो इन सब अनर्थों का निग्रह सहज में ही हो जाय भूखा !

क्योंकि तू अज्ञानी है—अबोध और मूर्ख है, तू नहीं जानता कि कहाँ क्या हो रहा है, इसलिए तू भूखा है। तेरी ही अज्ञता

अज्ञान और मूर्खता

पर, तेरी ही दीनता और गरीबी पर संसार का यह ऐश्वर्य्य है—यह भी तुझको ज्ञात नहीं। चन्द मुट्ठी भर दिमाग के धनी धूर्तों की यह विभूति, यह ऐशवो आराम (Luxary) तेरे ही खून के पसेनी की कमाई है यह भी तू शायद नहीं जानता। मशीन बनाये गये। विज्ञान के नये-नये आविष्कार हुए। रेल चली—जहाज तैयार हुए। आज वायुयान तो कल युद्ध के असंख्य संहारक अस्त्र, शस्त्र, टैंक्स्, और गैस आदि आविष्कृत हुए। पर यह सब किस लिए और किसके लिए भूखा ? कहा जाता है यह सब तेरी उन्नति के लिए, तेरी रक्षा और सुख शान्ति के स्थापन के हेतु, तेरी स्वतन्त्रता अच्युत बनाये रखने के वास्ते आविष्कृत हुए। किन्तु भूखा ! वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यह सब तेरी भूख पर, तेरे मुख के ग्रास को छीनने के लिए निर्मा-णित हुए हैं। इनके निर्माण और तेरी भलाई से सम्बन्ध कैसा ? कोई राजा आवे, देश स्वतन्त्र हो या परतन्त्र हो तू भूखा

का भूखा बना रहेगा। यदि किसी की स्वतन्त्रता छिनेगी, किसी को कोई दुःख होगा तो तेरे मुट्ठी भर अग्रज नेताओं को ही दुख होगा या उनकी स्वतन्त्रता छीनेगी। तब बताओ भूखा तू इन आविष्कारों और इन नर-संहार की योजनाओं से आराम और सुख-शान्ति का अनुभव कैसे कर सकता है? तेरी भूख सुलग कर कहीं प्रलयकारी ज्वाला का रूप न धारण कर ले, इस भय से तुझे और तेरे बहुसंख्यक समुदाय को दबाये रखने के अभिप्राय से, इनका निर्माण हुआ है। तुझको तो आराम तब मिलेगा जब तेरी क्षुधा की तृप्ति होगी, पेट में लगी हुई अग्नि की जलन मिटेगी, क्षुधा का भस्मासुर सदा के लिये नहीं तो कम से कम कुछ समय के लिये शान्त हो जायगा; बच्चों की उभड़ी हुई ठठरियों पर मांस तथा घरवाली के शरीर पर अङ्ग ढापने भर वस्त्र दिखाई पड़ेंगे; अथवा तेरे मकान के छप्पर बदल जायेंगे। लेकिन यह सम्भव कहाँ है? तेरे रक्त के कण-कण पर लगाया हुआ, तेरी सूखी रोटी के नमक तक पर बैठाया हुआ सरकारी कर— इन महान खर्चों से बचे तब तो तेरी भलाई के लिये कुछ व्यय किया जाय। अरबों के बजट में केवल १०,५ हजार रुपये तेरे सुधार के नाम पर रखकर और उन्हें भी अधिक वेतन में ही वितरण करके, सरकार तेरे खून की तरह टपकने आँसू को पोछने का प्रयत्न कर के झूठी वादाओं से तुझे बच्चों जैसा फुसला देती है और अपनी अज्ञानतावश तू 'टुकुर-टुकुर दीदम् दम न कशीदम्' का दृश्य उपस्थित करता है।

परन्तु सच पूछा जाय तो इन साधनों से तेरा क्या प्रयोजन—क्या हित और सुधार है? तेरी भूख का इन वैज्ञा-

निक संहारक आविष्कारों से, इन जहाज और रेलों से जो तेरे मुख के अन्न को तेरे घर से ढो-ढोकर एक जगह पूँजीवाले के पास जमा कर देते हैं और तू टुकुर-टुकुर ताकता हुआ साल भर भूखों मरता रहता है, क्या मतलब—क्या प्रयोजन है ? तुम वायुयान की उड़ान का सुख क्या जानो ? तुम उन सैनिकों के ऐश और आराम को—सुख के साधन को क्या समझोगे, जिनकी संख्या कोटि में नहीं अरबों में आज संसार में गिनी जा रही है ? ये क्यों तुम्हारे मुख के कौर को खाकर बेकार तुम्हारी छाती पर दण्ड पेल रहे हैं ? लेकिन इनकी भी हस्ती क्या है ? ये आज ठीक बलि-पशु के समान सरकार द्वारा पाले-पोसे जा रहे हैं; ईद में जबह होनेवाले बकरे की तरह मुटवाये जा रहे हैं। अनेक टुकड़ों में बटे हुए देशों की, मुट्ठी भर चन्द व्यक्तिओं की बनी हुई सरकारों ने, तुमको भूखों रखकर—तुम्हारी भूख पर अपनी सेना की वृद्धि करके—अपनी शक्ति, और प्रभुत्व का सिक्का तुम्हारे ऊपर इस प्रकार जमा रखा है कि उनके चन्द सेनापतियों के एक संकेत मात्र पर इतना बड़ा नर-समुदाय स्वाहा होने को अग्रसर हो जायगा ; और वे राजनीतिज्ञ इस नर-हत्या को राष्ट्रीयता का नाम देकर दुनिया के गरीबों की आँखों में धूल झोंकेंगे। इन चाणक्यों ने राष्ट्रीयता के नाम पर आज अपनी प्रभुत्व-लिप्साके साधन में यह सैनिक तैयारी—यह नर-संहार योजना की होड़ कर रखी है जिसे तुम समझते नहीं। इस योजना को सफल बनाने के लिये इन्होंने एक ओर तो जड़-वाद के प्रचार से तुम्हारी आवश्यकता बढ़ाई, दूसरी ओर उसकी पूर्ति के साधन को मशीन के बल तुमसे छीन लिया। तुम्हें बेकार

बनाकर निर्धन, दीन, अज्ञानी और नगण्य कर दिया। अब बेकारी की अवस्था में तुम्हें विवश करके तुम्हारी रोटी छीनकर, तथा आवश्यकता बढ़ाकर, और इस तरह तुम्हें उनके वशीभूत होने के लिये मजबूर करके—तुम्हारे ही मुख की छीनी हुई रोटी से तुम्हारे ही अन्य अधिक भूखे भाइयों को भरती करके—अरबों की संख्या में स्वयं मरने और अपने निर्धन बेबस भाइयों को मारने के लिये बेकार पोस-पाल रहे हैं। और क्षुधा के मारे, वे भी क्षुद्र स्वार्थ के वशीभूत होकर, इसको स्वीकार करने के लिये बाध्य हैं। नर-संहार की यह वृहद् योजना किस निर्दय प्रलय का दृश्य हमारे सामने लायेगी यह कौन बतावे! गत युरोपीय महासमर के नर-हत्या से यूरोप और संसार का मेरुदण्ड अभी सीधा भी नहीं हो पाया था कि यह दूसरे नर-संहार की योजना बनकर सभ्य यूरोप में तैयार हो गयी। यही हैं भूमण्डल के धूर्तों की चाल भरी करतूतें! तो भूखा! तू अब भी तो अपनी इस मोह निद्रा से अलसायी आँखें खोल और शिव के तीसरे नेत्र की उस विस्फोटक, कल्याणकारी, आनन्दमयी ज्वाला को, प्रार्थना करके प्रज्वलित करा—कि जिससे राष्ट्र के पाप-पुण्य जल जायँ, तेरी भूख मर जाय, और संसार का विनाश कल्याणकारी, आनन्दमय सृजन में परिणत हो जाय।

देव सभ्यता जब अति को पहुँच गई तब प्रकृति ने शिव से ताण्डव-नृत्य कराया। उसमें ब्रह्माण्ड के ब्रह्माण्ड जल गये, बह गये। असंख्य सूर्य-मण्डल दीपक से बुझ गये। पाप, पुण्य, सभ्यता समाज, सभी शिव में विलीन हो गये—विषमता एक मात्र उठ गई—महानृत्य के प्रत्येक महाताल पर सृष्टि का प्रलय और सृजन

होने लगा। असंख्य ब्रह्माण्ड बने और असंख्य नष्ट हुए। असंख्य युगों का निर्माण हुआ और युगान्तरों का विनाश। इस प्रकार महाप्रलय का अनवरत आनन्द-नृत्य स्वच्छन्द हुआ। आनन्द के उद्रेक से विनाश और सृजन की विभावना मिट गयी। दोनों एक साथ मिलकर उस महानृत्य के सामने उपस्थित थे। शिव के उस महानन्द के प्रवाह में विनाश और सृजन होकर एकतान शान्त हुआ। और तब महा जल-प्लावन के बाद इस भूमण्डल की नई सृष्टि हुई।

ओ भूखा! तू भी वैसा ही महाताण्डव नृत्य प्रारम्भ करने के लिए शिव से प्रार्थना कर, कि तेरी भूख मर जाय—विषमता मिट जाय, शोषण समाप्त हो, और सृष्टि का विनाश होकर पुनः सुन्दर सृजन हो। तेरी भूख की ज्वाला भी आज अभिलाषा की आग बन चुकी है। शान्ति का प्याला अब भर गया है। अब जब शिव अपने प्याले में ज्वाला की चिनगारी डाल कर प्रकृति महा विस्फोटक ज्वालामुखी को प्रज्वलित करनेवाली है, जिसमें सभी जल कर संहार को प्राप्त होंगे। संहार होकर सृजन होगा। और यह सारी जड़ता, सारी विषमता, तेरी सारी भूख उसी में भस्मीभूत हो जाएँगी। महाकल्याणकारी वह शुभ मुहूर्त होगा भूखा! शिव के प्रत्येक पदविन्यास के साथ कल्याण झरेगा। भूखों की भूख पापियों का रक्त पी-पीकर निहाल हो जायगी। प्यासी योगिनियों के खप्पर पेट भरों के गरम लाल रक्तों से छलके-छलके भर उठेंगे। शृङ्गी बजेगी, डमरू डिमडिमायेगा। शिव के पद-नूपुर झंकृत होंगे। और महाप्रलय का महानृत्य आनन्द के उद्रेक में विकास को प्राप्त होगा। तब कहीं जाकर तेरी भूख की भीषणता जल कर खाक होगी और आततायी का

अत्याचार, पापी का पाप, धनिक का धनबल तथा प्रभु की प्रभुता नष्ट होगी। इस महानृत्य के एक ही ताल पर संसार की सारी विषमता, सारे पाप लुप्त हो जायँगे। महाकल्याण का प्रकम्पन आनन्द की अनुभूति में जब शान्त होगा तब सृजन की कल्याणकारिणी ज्योति प्रस्फुटित होगी। स्रष्टा की सृष्टि पुनः बनेगी और भूखा ! तेरी भूख स्यात तभी दूर भी होगी।

लेकिन तू भूखा क्यों है, भूखे ? भूख में तो शक्ति है, जागरण है, आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रयत्न है; और इसलिये उसमें उद्योग, कर्म, परिश्रम सभी उपस्थित हैं।

भूखा, भूखा क्यों है?

तो फिर तू भूखा क्यों बना रहता है भूखे ? उद्योग और कर्म तथा परिश्रम ही तो भूख को दूर करने के साधन हैं। तू निरन्तर कर्म करता है, परिश्रम करता है, परिश्रम करते करते तेरी आँखें धस गयी हैं, मेरुदण्ड टेढ़ा पड़ गया है, कपोल पिचक गये हैं, मुख की प्रतिभा जाती रही, पर फिर भी तेरी भूख नहीं मिटती, क्यों ? तू कड़ाके के जाड़े में मशीन चलाता है, खेत सींचता है; अपने शरीर को शरीर न समझकर बरसते बरसात में हल चलाकर संसार के लिये, सैनिकों के लिये, अमीर और पेटभरों के लिये धन-धान्य उत्पन्न करता है पर आप भूखों रहता है; उसमें से एक ग्रास भी पाने के लिये अपने को भागी नहीं समझता यह क्यों ? यदि भूख दूर करने के साधन शक्ति, जागरण, कर्म, परिश्रम और उद्योग ही हैं और ये सब तुझ में वर्तमान हैं—तो तेरा पेट भूख की ज्वाला से सदा जला क्यों करता है ? क्या इसका उत्तर तू दे सकता है ? नहीं, इस प्रश्न का

ठीक उत्तर जिस दिन देने में समर्थ होगा उसी दिन दवा भी ज्ञात हो जायगी। परन्तु भूखा! मेरा उत्तर सुनकर भी जो उससे लाभ तू नहीं उठाता है। बस मुझे शोक यही है। केवल ज्ञान के अभाव में परिश्रम करके भी जो तू भूखा है, वह इसलिये कि समाज व्यवस्थापक ने तुम्हें अपनी नीति की जादूभरी छड़ी छुलाकर भेड़ की तरह सर नीचा करके चलना सदियों से सिखा दिया है और इसी का नाम तुमको बताया है—अनुशासन desciplinc। क्या भूखों का अनुशासन यही है कि उनको भूखा रखा जाय?

धर्म, अधर्म, पाप-पुण्य, उचित-अनुचित ढोंग आदि का पाठ पढ़ाकर, तुमको—तुम्हारे ज्ञान और संस्कृति को तो इन्होंने इसी अनुशासन में—descipline बन्द कर रखा है; पर अपने को उससे परे रखकर, नये-नये नियम और नये-नये स्वार्थ-साधक कानून बना, अपना उल्लू सदा सीधा रखना ही अपना परम कर्तव्य माना है। तब भूखे! बताओ तेरा विकास हो तो कैसे हो? पशु की तरह तुम परिश्रम करते हो, पर उसका फल दूसरा पाता है! मशीन की तरह तुम निरन्तर खटा करते हो, पर उपज दूसरों के लिये होती है! इस तरह परिश्रम और कर्म करके रात-दिन खट कर, हाड़-माँस के पुतले—तुम भूखे! अपना हाड़-माँस गला देते हो पर तब भी भूख नहीं मिटती यह क्यों? तुम में ज्ञान का अभाव, स्वतन्त्र न होने की भावना तथा उद्योग और संगठन की कमी है। इसी से धूर्त तुमको चकमा देकर तुम्हीं से प्रथम सरकार स्थापित कराता है और तब तुम्हारा सुधारक, फिर नेता और फिर स्वामी बनकर तुम्हारे ऊपर शासन करने लगता है। और क्रम ऐसा चला देता है कि तुम सदा उसके जूते के

नीचे दबे रहो, जिससे उसका नेतृत्व बना रहे। नहीं तो, तुम उसको नेता कैसे मानोगे। अपने पेट की भूख के मरते ही तुम भी उसी की तरह बन जा सकते हो। तुम्हारा मस्तिष्क भी ज्ञान-सम्पन्न हो जा सकता है, और उसके शासन के जुए को अपने कंधे से उतार कर फेंक दे सकते हो और स्वयं उसकी धूर्तता से भिड़ भी सकते हो। इससे वह क्यों तुमको ऐसा करने का अवसर प्राप्त करने दे? तुममें से अनेक ऐसा किया करते हैं, पर नेता बनने पर वे पहलेवाले समय को—उस समय की अपनी भूख को भूलकर अपने को भी शासक जाति का समझने लगते हैं और तुम उन्हें इसलिये भूल जाते हो कि तुमको अपना सजातीय कहने में उच्च वर्ग के सामने उनकी हेठी होती है। तुम्हारी भूख को भूलकर अपने निजी स्वार्थों के वशीभूत हो वे तुम्हारी भूख को पुनः भड़काने की धमकी सरकार के सामने देकर, सरकारी धूर्तों से अपने व्यक्तिगत हितों का सौदा करते हैं। फिर वे तुम्हारे मान्य नेता तुम्हारे ही बल से उठकर तुम्हारे शोषकों के साथ जा मिलते हैं। और तुम? असहाय बने भूखे ही रह जाते हो। इस तरह तुम्हारे ही बल के आधार पर बढ़नेवाले तुम्हारे साथी का विकास उसको विरोधी से मिला देता है—और तुम भूखे! भूख में तड़पा करते हो। यही तो तुम्हारे भूखों रहने का इतिहास है—क्रम और नियम है, रहस्य और कुञ्जी है, और तुम इस रहस्य को जानकर भी अपने अज्ञान-वश भूखे हो। इसका नियन्त्रण कौन करे? भूखा अथवा पेट-भरा?

तुम कहोगे भगवान करेगा। तुम्हारी उस पर श्रद्धा है। युगों से, शताब्दियों से, तुम भूखों की यही धारणा रही है और

इसी से तुम जीते भी हो। भगवान् ? ईश्वर ? परमेश्वर ? नाम बहुत रोचक, आकर्षक और सुन्दर हैं क्योंकि वह अदृश्य है। अदृश्य की सभी चीजें आकर्षक और सम्मोहक होती हैं। प्रकृति की माया अदृष्ट से सर्वत्र झाँका करती है—इसी से वह भी सम्मोहक, रोचक, सुन्दर और अज्ञेय है। संसार की सभी चीजें पर्दे के भीतर से सुन्दर ज्ञात होती हैं। स्वयं ईश्वर ही पर्दे के भीतर होकर सुन्दर ज्ञात होता है तो उसकी सृष्टि पर्दे के भीतर से क्यों न सुन्दर जान पड़े !

पर ईश्वर ? ईश्वर तो स्यात तर्क की वस्तु नहीं; सभी महात्माओं ने ऐसा ही बताया है। तर्क—कोरे तर्क की उड़ान बहुत चोखी, कटु और मनोवृत्ति के झुकाव के अनुसार हुआ करती है। यदि ऐसा न होता तो संसार के सभी मस्तिष्क एक ही तथ्य पर आज इतने युगों के वाद-विवाद के बाद पहुँच गये होते। किन्तु नहीं, जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के झुकाव के अनुसार ही अपनी धारणा निश्चित करता है, और तब उसका तर्क उसी धारणा के अनुसार विषय को प्रतिपादित करता है। यह कोई सर्वमान्य या अटल नियम नही है कि एक व्यक्ति द्वारा तर्क से सिद्ध की हुई बातें सर्वत्र तथ्य ही हों। तर्क गलत दिशा में भी जा सकता है। तर्क के निष्कर्श की सत्यता में शङ्का तो तभी उत्पन्न हो जाती है जब संसार के महान् व्यक्तियों के प्रतिपादित सिद्धान्तों में भी भेद मिलता है। अतः केवल तर्क से ही किसी बात की सत्यता मान लेने के लिये तुम बाध्य कैसे हो सकते हो, भूखे ? किन्तु बुद्धि का

ईश्वर का अस्तित्व और उसका दुरुपयोग

बल रखनेवाले तर्क के सहारे ही आज तुमको भूखों रखे हुए हैं। तुम उनके तर्कों को सुनते हो और उनकी वास्तविकता समझकर भी अपनी पतितावस्था की विवशता के कारण उनका विरोध नहीं करते। यही तुम्हारी भूख को बढ़ाने का सबसे बड़ा कारण है, सत्य समझकर असत्य का विरोध न करना कायरता का सबसे बड़ा चिह्न है और कायर संसार में सबसे बड़ा पापी है।

तो कह रहा था ईश्वर की बात, भूलकर उलझ पड़ा तर्कवादियों के साथ। ईश्वर का अस्तित्व इन तर्कवादियों ने अपनी तर्क की आँधी में उड़ा डाला है। किन्तु उनके लाख प्रयत्न करने पर भी महात्माओं के अनुभव और त्याग ने तुम गरीबों के हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न कराकर, आज तक उस पर तुम्हारा विश्वास जमाये रखा है। 'निर्बल के बल राम' को आज कौन नहीं जानता? परन्तु धनिक ने इसको भी अछूता नहीं छोड़ा। ईश्वर के अस्तित्व के सहारे से भी उसने अपना उल्लू सीधा ही किया है, और आज भी कर ही रहा है। पर तुम ईश्वर को आज भी उसी श्रद्धा से पूजते हो; और यही श्रद्धा स्यात तुम्हारे भूखे जीवन के लिये अन्धे की लकड़ी भी है। तुम फाका कर करके मर जाते हो; तुम्हारा बच्चा अन्न बिना माँ की गोदी में बिलख-बिलखकर सदा के लिये आँखे बन्द कर देता है; तुम्हारी स्त्री चार-चार पाँच-पाँच दिन भूखों रहकर तुमको और तुम्हारे बच्चे को अपना भोजन खिला-खिलाकर अपना जीवन निःशेष कर देती है; किन्तु तुम तब भी ठोस सत्य को न देखकर यही कहकर सन्तोष करते हो कि 'भगवान की मर्जी—सुख भाग्य में था तो सुख कहाँ से मिले।'

इसी सहारे के लिये—इसी धैर्य और ढाढ़स के लिये, स्यात महात्माओं ने ईश्वर की सृष्टि भी की या ईश्वर ने स्वतः अपना बोध ज्ञान संसार को प्रदान किया। नहीं तो, गरीब भूखा! तुमने आज लहू की नदी बहाकर अपने सतानेवालों की हस्ती को इस धरातल से सदा के लिए मिटा दिया होता—उनके लहूपान से अपनी अनादि काल की तृष्णा को तृप्त और शान्त कर ली होती—या स्वतः अपनी इस भीषण यातना से पीड़ित होकर अपने ही हाथों अपने भूखे रोते बच्चों का—अपनी अधमरी पत्नी का—अपने भाई कुटुम्ब का—खूँख्वार भेड़िये के समान जीवन निःशेष करके अपना जीवन भी शेष कर दिया होता! भूख की ज्वाला ऐसी ही है। इसकी जलन इसकी तड़पन—ऐसे ही ऐसे काम मनुष्य से करा डालती हैं। इसमें तुम आश्चर्य क्या करते हो? सुना नहीं महा दुर्भिक्ष-काल में विश्वामित्र जैसे महर्षि ने चोरी करके कुत्ते का मांस भक्षण किया था।

परन्तु, ठहरो! भूलता हूँ, महात्मा द्वारा ईश्वर के आविष्कृत होने की बात कहकर मैंने भूल की। वह तो नास्तिकों की बात थी, तर्कवादियों का कोरा तर्क था। वह सत्य हो या असत्य, तुम्हारे लिये क्या? तुम्हारी भूख की ज्वाला तो सत्य ही है। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? महात्मा इस बात को नहीं मानता कि उसने ईश्वर की सृष्टि की या ईश्वर इसलिये है कि समाज का समुदाय सदा भूखों मरा करे और उसके नाम पर ढाढ़स बाँधे रहे अथवा आततायी भूखे के मुख के ग्रास को सदा छीना करे। वह कहता है कि ईश्वर स्वतः अनादि है; अनन्त, अगोचर सर्वशक्ति-सम्पन्न और अगम्य तथा एक है। ऐसे महाशक्तिसम्पन्न पर-

मात्मा ने अपने महानन्द के उल्लास में विश्व की रचना की। और उसकी सृष्टि रचने की कार्य-शक्ति जगत में माया के नाम से ज्ञात हुई। ईश्वर की लीला माया के सहयोग से इस विश्वसृजन के क्रम में हँस उठी। उस महापुरुष के महानन्द का उल्लास सृष्टि के रूप में आविर्भूत हुआ। महात्मा अपने तप के अनुभव से--जगत के जीव-तत्व के अन्वेषण और विश्लेषण से तथा हृदयानुभूति और अध्यात्म प्राप्त ज्ञान के बल से--ईश्वर की शक्ति को, तेज और क्रम को अनुभूत करके, उसे सचमुच इस सृष्टि का स्रष्टा मानता है। वह अपने हृदय के हृदय से--अभिन्न श्रद्धापूर्वक, भक्ति और प्रेम भाव से—उसका पूजन करता है—उसका गुणगान करता है। अपनी अन्तरदृष्टि से उसकी शक्ति का अनुभव करके, संसार को असार जानकर उसे विराट ईश्वर का एक खेल मानता है। उस सृष्टि में अपने को ईश्वर का ही अंश समझकर ईश्वर में विलीन होने के लिये—उसी के साथ मिलकर उस महानन्द का अनुभव करने के लिये जिसका उसने कभी अनुभव किया था—आतुर हो जाता है। अपने लघु चेतनशक्ति के जीवत्व को उस महा ईश्वर शक्ति में, महारूप में, विलीन कर देने के लिये सदा व्याकुल रहता है। वह जप-तप, संयम-नियम, सत्य-अहिंसा तथा त्याग, प्रेम और अनुभव से अपनी दिव्यदृष्टि प्राप्त करता है और उससे मानव-कल्याण के लिए संसार को ईश्वर-प्रेम का ऐसा उपदेश देता है जिसकी सहायता से सभी भेदभाव, सभी विषमता, मिट कर, साम्य—अन्तर साम्य, अन्तर प्रेम स्थापित होता है और महास्रष्टा की माया की इस सृष्टि के सत्य ज्ञान का आनन्द उसे प्राप्त होता है। वह योग-

भिन्न होकर चिन्त्य ज्ञान के रूप पर रहता है। सृष्टि के पहले के पूर्ण अणु-परमाणु की महाविश्रृंखलता के केन्द्र में एक सर्वव्यापी चेतन-शक्ति थी जो प्रत्येक अणु के, प्रत्येक परमाणु के परस्पर सम्बन्ध का कारण है। अणु-परमाणु अचेतन हैं। उनकी विश्रृंखलता में उनके परस्पर संयोग और सम्मिलन के लिए नियति। उस की निरंतर विश्व की रचना होकर भिन्न-भिन्न रूप में यह जगत् बने महाविराट सर्वव्यापी महाचेतनता है, जिसने अपने महानन्द के महोल्लास में एक मात्र 'एकोऽहं बहुस्याम्' के महोच्चारण के साथ विश्व-सृष्टि का सूत्र बाँधा। इस सृष्टि की रचना का कारण अचेतन परमाणुओं का आकस्मिक सम्मिलन नहीं है। अकस्मात् सृष्टि की रचना का होना, और ईश्वर की चेतनता को अस्वीकार करके, उसको केवल अणु-परमाणु के संयोग-वियोग का कारण बनाना, सृष्टि के क्रमबद्ध नियम को -- क्रमबद्ध सञ्चालन को --अस्वीकार करना होगा। पर वास्तविकता सृष्टि के इस क्रमबद्ध नियम और क्रमबद्ध सञ्चालन-सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं कर सकती। इसी से महाचेतनता के अस्तित्व को मानने पर बुद्धि को बाध्य होना पड़ता है।' महात्मा अपने बाह्य अनुभव और अन्तर्दृष्टि से ऐसा ही अनुभव करता है, और इस अनुभव के साथ ही विकल हो कह उठता है, 'चेतनता तो एक है—महाचेतन, चिद्ब्रह्म एक है, फिर मेरी यह दूसरी चेतना आई तो कहाँ से! अतः आत्मारूप स्वतः मैं ही ईश्वर हूँ।'...पर दूसरे महात्मा को यह अमान्य होता है। वह अपनी चेतनता को जीव की संज्ञा देकर उस महाचेतनता से निकली हुई तो मानता है पर उसमें पुनः विलीन होने की शक्ति

से उसे रिक्त कहता है। वह कहता है कि जैसे अग्नि से चिनगारी निकलकर पुनः अग्नि में नहीं विलीन हो सकती, वैसे ही जीव ईश्वर-अंशी होकर भी उससे विलग हो जाने के कारण पुनः उसमें लीन होने में असमर्थ है। पर पहला इसे न मानकर कहता है कि नहीं, अनुभव करो और आगे देखो। उसी अग्नि की ज्वाला दो भिन्न-भिन्न लपटों में दिखाई देकर भी–दो भिन्न लहर में उठकर भी जब मिलती हैं तो एक हो जाती है। अतः चेतन एक है, चाहे वह जहाँ रहे और जिस रूप में रहे। यदि जीव में है तो जीव उसमें पुनः विलीन हो सकता है।

फिर इन्हीं दो मतों को लेकर दो सम्प्रदाय बने, जिन्होंने बाद में अनेक रूप धारण किये। और वे ही सम्प्रदाय फिर आगे चलकर नरसंहार की योजना का भी कारण बन गये, जो आज संसार के कोने-कोने में फैलकर बटवारे के विष को बो रहे हैं और मानव प्राणी को धार्मिक बटवारे की होड़ में डालकर उसे पशु से भी निकृष्ट बना डाला है। परिणामस्वरूप आज मनुष्य अपने हृदय से सहानुभूति, प्रेम आदि सात्विक भावनाओं को निर्मूल करके स्वयं मानवता से रहित हो गया है। हाँ तो महात्मा अपनी महानता से, अपने विशेष अनुभव और त्याग के बल पर लोक-कल्याण की बातें कह जाता है; किन्तु आततायी उन्हीं बातों का ढोंग रचकर—उसको अपने हितसाधन का कारण बनाकर उसमें व्यभिचार उत्पन्न कर देता है। इसी से तो आज संसार धार्मिक विचार के कारण भी नर-संहार-योजना पर आरूढ़ है। नहीं तो, ईश्वर के अस्तित्व को कोई क्यों अस्वीकार करता और भूखा तो उसके अस्तित्व को भूल ही नहीं सकता है; क्योंकि आपदकाल में

वही उसके जीवन का एकमात्र आधार रहता है। अतः ईश्वर के अस्तित्व पर आततायियों द्वारा होनेवाली धाँधली को देखकर, भूखे की और मुझ जैसे मेरे अन्य भाइयों की भृकुटी टेढ़ी जो हो जाती है वह अकारण ही नहीं होती। फिर भूख की ज्वाला में—अत्याचार, उत्पीड़न और व्यभिचार की अधिकता के कारण—आततायी के झूठे ईश्वर को न मानकर, उसके झूठे समाज को अस्वीकार करके, यदि भूखे के दाँत आततायी की गरदन में घुस जाँय और उसके रक्त का पान करने लगें तो इसमें भूखे की क्या नास्तिकता है जी, बता सकते हो ? कुई नहीं ?

भाग्य और भाग्य का पचड़ा

तो आततायी इसी ईश्वरीय नियम के पवित्र कर्म और भाग्य, मनगढ़ंत सिद्धान्त का पचड़ा पेश करके तुम भूखों को समझा देता है कि तुमने अच्छे कर्म नहीं किये; सन्तोष, धैर्य, त्याग, सेवा, अहिंसा, प्रेम, भक्ति आदि का पालन उस जन्म में या इस जन्म में नहीं किया—'जगदीश्वरो वा दिल्लीश्वरो वा' के सिद्धान्त को नहीं माना, राजकीय नियमों का उल्लङ्घन करके अधर्म को सदा बटोरते फिरे, इसी से तुम्हारी यह दशा है। और तुम भूखे, उस आततायी की चाल में आकर इसको सत्य मानने लगते हो। ठीक है, सिद्धान्त रूप उसका ऐसा कहना भी सत्य ही है। पर क्या तुम्हारे कर्म वास्तव में ऐसे होते हैं ! इसीसे तुम्हारे कर्म शुभ नहीं, तुम दुखी, भूखे, क़ंगाल तथा पतित और चाण्डाल बन गये हो। तुमने बड़े से बड़ा परिश्रम करके खेत में अच्छा से अच्छा बीज बोया—कर्म किया—बीज बोये जाने का कर्म हुआ। बीज और पृथ्वी के

संयोग होने पर प्रकृति और पुरुष ने काम किया। उपज तैयार हुई। योग्य बीज और योग्य पृथ्वी के सुन्दर संयोग का फल यह हुआ कि अच्छी उपज लहलहा उठी और तुम्हारे अच्छे परिश्रम का कर्मफल तुमको बहुधान्य के रूप में मिल गया। कर्म तो बिना फल के हो ही नहीं सकता और न फल बिना कर्म के। फिर मैंने कम परिश्रम करके बुरे खेत में बुरे बीज डाले—खेत और बीज की बुराई के कारण बीज और पृथ्वी का संयोग उत्तम न हो सका इसलिये प्रति कर्म के अभाव में प्रकृति और पुरुष की गति वहाँ रुक गई—उपज अच्छी नहीं हुई। मेरे कम परिश्रम के फल-स्वरूप मुझे कम धान्य मिला। इस तरह कर्म-सिद्धान्त यहाँ भी सफल हुआ। व्यक्ति के परस्पर व्यवहार में कर्म ऐसे ही बदला दिया करता है। राम ने मोहन को सताया। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मोहन का दुःख राम के यहाँ उसी रूप में प्रकट होगा—राम वैसे ही दुःख पायेगा—और भाग्य तो कर्म-फल का ही दूसरा नाम है। तुम्हारा आज का या इस जन्म का कर्म कल या उस जन्म में तुम्हारा भाग्य है। उसका फल तब तुम्हें मिलेगा। कर्म के इस सिद्धान्त को तुम अस्वीकार नहीं कर सकते भूखे! और इसी सिद्धान्त के अनुसार तुम आज भूखे भी हो।

तो क्या आततायी के बताये कर्म-फल को तुम नहीं भोग रहे हो ? तुम इतने रोष में क्यों आ गये ? क्या तुम पापी नहीं हो ?

तुम्हीं दोषी हो

क्या कहा—कि 'संसार में त्याग और सेवा को छोड़कर दूसरा धर्म ही क्या है ? और हमसे बढ़कर त्यागी और सेवक ही कौन है ?' ठीक है—मैं भी यही मानता हूँ, परन्तु थोड़े परिवर्तन के साथ। सुनो मैं तुम्हारी ही ऐसी बात कहता हूँ। तुम कहते हो कि हम त्यागी हैं, हम सन्तोषी हैं, धैर्यधारी सेवक और अहिंसक हैं, तथा प्रेमी और सच्चे हैं; इससे हमारे समान पुण्यात्मा संसार में दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। इसका तुम भूखों को गर्व भी है। पर तुम नहीं जानते—यह सब तुम्हारा झूठा भ्रम, दम्भ और अहंकार मात्र है। टुक अपनी आँखें खोलो और ध्यानपूर्वक सब बातों को उनके वास्तविक अर्थ में समझकर बताओ कि इन कर्मों को करके भी, जिनके लिए तुम्हें गर्व है, तुम पापी हो या पुण्यात्मा ?

मैं मानता हूँ कि सन्तोष, धैर्य, त्याग, अहिंसा, प्रेम, सच्चाई आदि अच्छे कर्म हैं, इनके फल शुभ होते हैं, किन्तु मैं तुम्हीं से पूछता हूँ—इनके अर्थ क्या हैं ?

यदि पढ़े हो तो कोष देखकर भी अर्थ बता सकते हो, और यदि नहीं पढ़े हो तो अपने चतुर, आततायी, अन्नदाता स्वामी से ही अर्थ पूछकर बताओ ? मैं तुमको पर्याप्त समय देने को प्रस्तुत हूँ। बोलो, क्या इच्छा है ? पर आश्चर्य ! तुम तो मौन हो गये। जैसे स्वामी की ठोकर खाकर तुम मौन रह जाते हो,

पैसा माँगने पर स्वामी का दुर्वचन सुनकर जैसे तुम खाली हाथ घर लौटकर अपनी पत्नी से 'कुछ नहीं मिला आज फाका करो' कहकर चुपचाप सो रहते हो ; और तुम्हारी धर्मपत्नी जैसे बिना दूध रहित स्तन को रात-रात भर भूखे बच्चे के मुँह में डालकर मौन हो सवेरा कर लेती है, वैसे ही तुम मेरे साधारण प्रश्न का उत्तर देते समय भी, मौन हो गये मानो तुम पर पहाड़ टूट पड़ा हो। तुम्हारा मौन ही तो तुम्हारे दुःख का कारण बना है। छिः! ऐसी नीरवता, जिसमें जागृति और चेतनता का अभाव हो सर्वथा मृत्यु की नीरवता है! यह जब तक रहेगी तुम भूखे बने रहोगे।

तो अब तक इतना धिक्कारने पर भी तुम मौन ही हो? तुम्हारी भृकुटी भी टुक बल नहीं खाती? तुम जन्म से ही अपने स्वामी की गालियाँ सुनते-सुनते अपनी लज्जा और आत्म-सम्मान को खो बैठे हो। तुम में आत्मा जैसी किसी वस्तु का आज अभाव हो रहा है। तब ऐसी अपमान-सूचक बातों को सुनकर तुम्हारी भौंहें तनें तो कैसे तनें? तुमको तो किसी प्रकार मुट्ठी भर अन्न पेट में डालने की चिन्ता है! सम्मान और लज्जा की बात तुम कहाँ सोच सकते हो!

'दारिद्र्याद् ह्रियमेति ह्रीपरिगतः स्वत्वात्परिभ्रश्यते,
निःस्वत्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।'
'निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यतो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥'

'मनुष्य निर्धनता से लज्जा को प्राप्त होता है—लज्जित मनुष्य तेज रहित हो जाता है—निस्तेज अपमानित होता है—अपमानित मनुष्य दुःख को प्राप्त होता है—दुःखी शोक को—और शोक

का मारा निर्बुद्धि हो जाता है तथा निर्बुद्धि मनुष्य नाश को प्राप्त होता है। इसलिये निर्धनता ही सब विपत्तियों का कारण है।' ये नीति के धुरंधर विद्वान के वाक्य हैं। एक निर्धनता ही तो व्यक्ति की लज्जा और आत्म-सम्मान के अभाव का कारण बनती है, जिनके अभाव में जीवन ही पापमय हो जाता है--सर्व-शून्य अन्धकारमय दिखने लगता है। कवि ने समाज की भूख का खूब अध्ययन किया था तभी तो ऐसे सुन्दर वाक्य कहे। अध्ययन और अनुभव ही तो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं। विना इनके महा-पण्डित भी मूर्ख और महाज्ञानी भी अल्पज्ञ है। अच्छा तो सुनो—मैं तुम्हारे गर्व करने की सभी वृत्तियों का प्रत्यक्ष विश्लेषण करके तुम्हें समझाये देता हूँ कि तुम्हारा अपनी सेवा, त्याग, सन्तोष, धैर्य और ईश्वर-विश्वास पर गर्व करना वास्तव में उचित है या अनुचित।

सन्तोष और सन्तोष का दम्भ

तुम्हें गर्व है कि संसार में तुम सबसे बड़े सन्तोषी हो। पर तुम स्यात सन्तोष के अर्थ को ही नहीं समझते। तुम भूखों में से जो पढ़े-लिखे हैं, वे भी सम्भवतः इसके अर्थ से अनभिज्ञ ही हैं। भूखे बी० ए०, एम० ए० मेरी इन बातों से क्षुब्ध न हों। यदि वे इसके अर्थ को जानते होते और उसके अनुसार कार्य्य करते होते तो सम्भवतः आज वे भूखे न रहते। डिगरी लेनी दूसरी बात है और विद्वता-प्राप्ति करना दूसरी वस्तु है। विद्वता संसार के ठोस सत्य के सच्चे अनुभव का दूसरा नाम है। विद्वत्ता की उपलब्धि अधिकतर अनुभव, अनुशीलन, मनन, परिश्रम और

अध्ययन पर निर्भर करती है। बिना इनके पुस्तकों का कोरा ज्ञान मूर्खता के ही बराबर है। यदि अनुभव और अनुशीलन के साथ कालेज की डिगरी का पुट हो तो सोने में सुगन्ध का होना है। स्वानुभव और स्वाध्याय तथा मनन और अनुशीलन के विना मनुष्य का पुस्तक-ज्ञान विना जीव के कंकाल की तरह, विना तैल के दीपक के सदृश, और विना प्रकाश के दिन की तरह—निरर्थक—केवल सड़न और अन्धकार उत्पन्न करने भर के लिये होता है।

हाँ, तो इसीलिये मैं कहता हूँ कि तुममें जो विना अनुभव और मनन के पुस्तक-ज्ञान-सम्पन्न हैं, वे साक्षर मूर्ख हैं। वस्तुतः सन्तोप का अर्थ वे नहीं जानते। इसलिये वे मौन हैं। सन्तोष आत्मा की आनन्द-पूर्ण आन्तरिक दृष्टि की भावना का द्योतक है। उपभोगों से मन के स्वतः आनन्द-पूर्वक हटकर, विपय वासना—संसार आदि से विना किसी विवशता के— दवाव के रिक्त हो जाने की भावना का नाम सन्तोप है।

चाह गई चिन्ता गई, मनुआँ वेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, सोई साहन साह॥

अनुभवी कवि कवीर के वचन ने कितना सुन्दर सन्तोप का रूप रखा है। इसी को अनुभव कहते हैं। पुस्तक का अध्ययन हो या न हो, अनुभव और सतसङ्ग-ज्ञान यदि पूर्ण हो तो मनुष्य मनुष्य वन जाता है। कवीर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वस, यही सन्तोप-सन्तोप है। और इसी सन्तोप को हृदय में जल की शीतलता की तरह, अग्नि की दाह के सदृश, यौवन के उन्माद तथा स्त्री की ममता के समान वहन करनेवाले प्राणी के सामने जीवन

पुण्यमय, आनन्दप्रद, और सुखद होता है। अब मैं तुमसे पूछता हूँ—कि तुम्हारा सन्तोष क्या इस कसौटी पर खरा उतरेगा? पर तुम नहीं बता सकते। तुम्हें अपनी साधारण परिस्थिति का तो ज्ञान ही नहीं है, तुम अपनी भावना का विश्लेषण कैसे कर सकते हो? अपने को, अपनी परिस्थिति और जीवन को समझना और पहचानना, मानवता को जानना और पहचानना है; पर क्या तुम अपने जीवन का विश्लेषण और उसका स्थान जानते हो? इसको न जानने से ही तो तुम स्वार्थी समाज के सामने नगण्य हो। तुम्हारा व्यक्तित्व समाज की दृष्टि में अर्थहीन वाक्य की तरह तुच्छ है। अर्थहीन वाक्य का आदर कहाँ होता है? और हो भी तो उसमें समझ खपाने की आवश्यकता का समावेश ही कहाँ है? तुम अर्थहीन होकर अपने और समाज दोनों के लिये नगण्य हो।

अच्छा तो सुनो! मैं अभी इसे प्रत्यक्ष बताये देता हूँ। किन्तु तुमको समझ कहाँ कि इसे समझ सकोगे! जिस दिन समझने की शक्ति तुममें उत्पन्न हो जायगी, उसी दिन तुम्हारी भूख भी ऊषा के अन्धकार सदृश लुप्त हो जायगी।

पर तुम्हें परिमार्जित समझ हो या न हो, साधारण समझ तो अवश्य ही है, जिससे तुम श्रद्धा-पूर्वक अपने सच्चे हित की बातों को सुन सकते हो।

फिर यदि मेरी लगन सत्य है तो तुम मेरी बातों को कैसे नहीं समझोगे? विशुद्ध भावना और अच्छी नीयत से, सच्ची लगन और दूसरे के दुःख से, वास्तव में दुखित होकर, समझाने से श्रोता की अन्तर समझ जाग्रत हो जाती है—उसका हृदय

वक्ता के सच्ची सहानुभूति पूर्ण सन्देश को ग्रहण कर लेता है। उसके शाब्दिक अर्थ—व्याख्या-पूर्ण विश्लेषण उसे भले ही समझ में न आवें, किन्तु उसका हृदय वक्ता के हार्दिक सन्देश के भाव को समझने के लिये अवश्य काफी समझ रखता है और उसे समझता भी है।

हृदय का हृदय से एक लगाव होता है, जो सभी प्राणी के हृदय-जगत का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किये रहता है। चेतनता—महाचित् शक्ति सब में एक है। इससे सब प्राणी के प्राण एक ही समान अन्तर-बोध शक्ति से सम्पन्न हैं। और इसी कारण पशु-पक्षी के हृदय तक हमारी सहानुभूति को—हमारे प्रेम और दया-पूर्ण वाक्यों और संकेतों को—समझ लेते हैं। हमारे और उनके हृदय का चेतन-सम्बन्ध, महाचित् शक्ति का होने के कारण उनके प्राण को मेरे प्राण का कथन, प्रेम, सहानुभूति, घृणा, क्रोध आदि समझा देते हैं। इसी से मैं कहता हूँ कि जब पक्षी हमारे हृदय-सन्देश को—प्राण-सन्देश को—समझ लेता है, तब तुम मस्तिष्क-प्रधान सजातीय होकर मेरी अन्तर-प्रेरणा की बातें क्यों नहीं समझ सकोगे ?

स्वार्थी समाज तो कहेगा ही कि यह कवि का प्रलाप है, लेखक की लेखनी की कल्पना और ओज है। तुम्हारा इसे समझने का व्यर्थ प्रयत्न करना मूर्खता है। किन्तु मैं कहूँगा कि उल्लू ऐसा समझाने से ही सीधा होता है इसलिये वह ऐसा कहता है। मेरी लेखनी का चमत्कार, मेरे मस्तिष्क की कल्पना, कला, और उसका सौन्दर्य देखने को तुम्हें अन्यत्र मिलेंगे। इसमें तो कला का चमत्कार दिखलाने के लिए लेखनी नहीं न चलती

है ? यह तो भूखों की भूख में प्रेरित होकर, लेखनी के आँसू का एकमात्र उद्भ्रान्त प्रवाह है। अन्तर्वेदना लेखनी की मसि है, आन्तरिक तड़पन उसका प्रकम्पन है और मस्तिष्क मशीन की तरह अन्तरानुभूति से अनुशासित हो-होकर, ठोस सत्य की ठोस भावना से ठोकर खा-खाकर, तुम्हारी नग्न सत्यता को अङ्कित करने के लिये कलम पर बैठी हुई अँगुलियों को बाध्य करता है।

मस्तिष्क की कल्पना की उड़ान की गुंजाइश इस अनुभूति में कहाँ है? समाज झूठा है—स्वार्थी है। जो इसको कल्पना तथा काव्य और कला की वस्तु बताता है। ऐसी बातें वह अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिये तथा भूखे को सदा भूखा बनाये रखकर अपना प्रभुत्व उस पर स्थापित रखने के अभिप्राय से कहता है। नहीं तो इस कथन में कल्पना कहाँ? सुन्दरता और रस कहाँ? हाँ उसमें भूखे की भूख निवारण की कल्पना का चिन्तन अवश्य है। उसकी भूख से मरने और तड़पने की करुण-कहानी का दिग्दर्शन अवश्य है; व्यंग्य-भरी निर्धनता, हृदय की तड़पती हुई भूख की आत्म-कथा का वर्णन है—जो मृतप्रेम की तरह अतीत-स्मृति की नाईं वेदनाभरी आह की अन्तरतम टीस के सदृश रह-रहकर सुननेवाले के कानों को खड़ा कर देते हैं।

हाँ, तो समझा रहा था तुम्हारे सन्तोष को, भूलकर दौड़ पड़ा उसके न समझने के कारणों के पीछे। क्षमा करना। भूल गया था। भूलों को क्षमा करना ईश्वर का गुण है और तुम ईश्वर रूप दरिद्रनारायण हो। हाँ, तो तुम्हारा रूप अपना रूप नहीं है तुमने विवशता की दशा में सन्तोष का बाना पहन लिया है। तुम्हारा धन बल-पूर्वक छीन लिया गया, तुम्हारे मुख के ग्रास भय दिखा-

कर तुम्हारे हाथों से रखवा लिये गये, पर तुम्हारी आँखें विव
हो चाह और हसरत भरी नजरों से उसे चुपचाप निहारती रहीं
तुमको विचार नहीं हुआ कि अपने सत्व की रक्षा में साहस कर
अपना अन्न छीन लें या मर मिटें। पर तुम उस ग्रास को पु
छीनकर खा लेने के बदले अपनी वीरता और आत्म-सम्मान
अवहेलना करके धीरे से दीन स्वर में कह उठे 'अच्छा मालिक
इसे भी ले लो। मैं सन्तोष करके रह लूँगा।' तुम्हारा यह सन्तो
सन्तोष नहीं है। यह तो विवशता की दशा का कपोल-कल्पि
सन्तोष है। तुम्हारा इस सन्तोष पर गर्व करना व्यर्थ है
वास्तविक सन्तोष में चाह नहीं है। आत्मतुष्टि, आत्मानन्द
भावना तथा अन्तःप्रेरणा से प्रसन्नता-पूर्वक त्याग और निस्पृह
के भाव हैं। साहस, वीरता, और आत्म-सम्मान है। कि
तुममें तो तीव्र चाह है, भूख की ज्वाला से तड़पती हुई तीव्र वेदन
दुःख, सन्ताप, तड़पन और रुदन तथा व्यग्रता और अशाि
है। फिर क्योंकि स्वामी से तुम अन्न नहीं छीन सकते, विव
होकर उसे अपना ही सर्वस्व दे देते हो—आप नग्न रहकर अप
बच्चे और पत्नी को भी भूखा और वस्त्रहीन रखा करते हो, औ
क्योंकि तुम अपनी भीतरी आकांक्षा, चाह और हसरत की पू
न हो सकने की वजह से विवश हो ऊपरी सन्तोष धारण कि
रहते हो और भीतर अन्तर जगत में चाह की महावेदना में घु
घुलकर सदा जला करते हो, कुढ़ा करते हो, इसलिये तुम्हा
वह ऊपरी दिखाऊ सन्तोष मिथ्या, कपटी और अर्थहीन है। औ
इसीलिये तुम सन्तोष की शान्ति से, उसके आनन्द और सुख
रहित रहते हो। तुम्हारा सन्तोष उस रूप में पाप से बढ़क

महापाप है। तुम्हारे पतन का भी एक प्रबल कारण है। जिसको तुम वरदान समझ कर संसार में गर्व करते हो वह व्यभिचार से सम्पन्न होकर एक मात्र अभिशाप है। उसी अभिशाप के प्रभाव से स्यात तुम इतने पतित हो गये हो—पापी, ग़रीब और भूखे बन गये हो, तथा पशु स भी अधिक नगण्य, अपमानित अकिंचन समझे जाते हो।

धैर्य और उसकी परिभाषा

उसी तरह धैर्य को लो, इसका भी व्यभिचारी रूप ही तुम्हारे पास है। धैर्य में शक्ति का विश्वास है, ज्ञान का बल है, क्षमा और अन्तर शान्ति की प्रेरणा है तथा आत्म-बल की पराकाष्ठा है। बिना इनके तुममें धैर्य का तथ्य रूप कहाँ सम्भव हो सकता है ? लंका में—'रावण रथी विरथ रघुवीर' देखकर जब शक्तिहीन और अधीर विभीषण ने शक्तिशाली राम से प्रश्न किया तब राम ने अपने सात्विक आयुधों के नाम गिनाने के साथ-साथ धैर्य का भी नाम लिया था।

'सुनहु सखा कह कृपा निधाना।
जेहि जय होय सो स्पदन आना॥
सौरज धीरज जेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ धुजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे।
छमा दया समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना।
बिरति धर्म सन्तोष कृपाना॥

दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा।
वर विज्ञान कठिन कोदण्डा॥
संयम नियम सिलीमुख नाना।
अमल अचल मन तून समाना॥
कवच अभेद विप्रपद पूजा।
एहि सम विजय उपाय न दूजा॥'

तब बताओ तुममें इस धैर्य का रूप है? तुममें राम की शक्ति—राम का ज्ञान—राम के हृदय की शान्ति और बल हैं? राम भी भूखे थे। राज्य से च्युत हो चौदह वर्षों तक उनके वन-वन घूमने का वर कैकयी ने कामी दशरथ से माँगा था। उन्होंने वनों में घूमकर, कन्द-मूल खाकर तुम्हारे जैसे भूख-प्यास मारकर और वल्कल वस्त्र धारण करके भी आततायियों का नाश किया। पचवटी में ऋषि-अस्थियों के ढेर को देखकर उन्होंने कहा था—

निसिचरहीन करउ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमहि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

सो उसे पूर्ण भी सुन्दर रूप से किया। उनमें तुम्हारी जैसी गरीबी तो थी, और भूख की आग पेट में सुलगी हुई भी थी, पर अज्ञता, दीनता, कर्महीनता, और आत्मसम्मान का अभाव, तथा अत्याचार सहन के अभिशाप उनमें नहीं थे। मर्यादा पुरुषोत्तम होते हुए भी उन्होंने अत्याचारी स्त्री का वध किया तथा सूर्पणखा की नाक कटवायी। उन्होंने अपने सत्य प्रेम से रीछ बन्दरों की सेना एकत्रित की। लंका पर चढ़ाई की और मेघनाद, कुम्भकर्ण, रावण जैसे योद्धाओं को मारकर लंका विजय की।

तब भूखे ! तुममें वही शक्ति, वही बल वही ज्ञान क्यों नहीं पैदा हो सकते ? क्या तुम भी राम की कही हुई चौपाई के आधार पर अपना जीवनरथ अपने स्वामी के प्रतिकूल अपने शोषक—भक्षक के खिलाफ, अपनी आततायी सरकार के सामने, नहीं सजा सकते ? तुम ऐसा कर सकते हो भूखे ! तुम में भी बल है, मनुष्य का रक्त है, महाचित् शक्ति की चेतन आत्मा है। आखिर तुम भी तो हो धैर्यशील राम के वंशज न ! तुम में उनके जैसा धैर्य क्यों नहीं पैदा हो सकता ?

हाँ तो त्याग ! त्याग का नग्न-रूप अपने को अपने सर्वस्व से आनन्द-पूर्वक परहित में रिक्त कर देना है। सर्वस्व से मेरा तात्पर्य वाह्य सर्वस्व से है। अन्तर सर्वस्व में जैसे—ज्ञान, विद्या, प्रेम, आदि तो त्यागने से भी नहीं त्यागे जा सकते। उनका अस्तित्व मन पटल पर रहेगा ही। लेकिन हाँ, उनका प्रयोग यदि आवश्यकता पड़े तो अवश्य त्यागा जा सकता है। पर प्रयोग भी तो वाह्य ही वस्तु न है ! जीवन भी परहित के लिये त्यागा जा सकता है, त्यागा भी गया है, और सच पूछो तो परहित में आनन्द-पूर्वक प्राण विसर्जन को ही वास्तविक त्याग कह सकते हैं। दधीचि ने यह त्याग किया था। दत्त और भरत ने भी आत्मसम्मान की रक्षा में बन्धुओं के प्रति अत्याचार के विरोध में यह त्याग किया है। पर वह त्याग भी वाह्य ही है। क्योंकि प्राण-विसर्जन में शरीर का त्याग होता है जो बाह्य है, प्राण का नहीं। प्राण तो अमर है महाचित् का अंशी है, उसका नाश या त्याग कैसा ?

त्याग की परिभाषा

तो त्याग की ही एक ऐसी भावना है जो यदि अन्तः-प्रेरणा से आनन्द-पूर्वक पूर्ण रूप से निभायी जाय तो ज्ञान, प्रेम, धैर्य सन्तोष, सेवा और अहिंसा आदि सभी सात्विक भावनाएँ स्वतः उत्पन्न हो जायँगी। इन सब भावनाओं को जाग्रत करने के लिए सर्वप्रथम त्याग की आवश्यकता है। इसमें स्वार्थ की रिक्तता है। क्षुद्र स्वार्थ की भावनाएँ ही व्यक्ति को, समूह के कल्याण की भावना से रहित करती हैं। और समूह-कल्याण या लोक-कल्याण की भावना से रिक्त होकर प्रेम, दया आदि सात्विक वृत्तियाँ किसी तरह पनप ही नहीं सकतीं। त्याग में स्वार्थ का नितान्त अभाव है। अन्य भावनाओं का वैसा आधारभूत मेरुदण्ड नहीं है जैसा कि त्याग का। स्वार्थ को साथ रखकर त्याग का विचार किया ही नहीं जा सकता। महात्मा गान्धी का त्याग ही उनके प्रेम के रूप में प्रकट है। उनकी महाशक्ति के पीछे से झाँका करता है। उनकी कर्मशीलता की अन्तरप्रेरणा का एक मात्र कारण त्याग है। उनकी आत्मा की उज्ज्वलता तथा उनके निर्बल शरीर को बड़े बलवान् योद्धाओं से भी सबल बनाने का प्रधान कारण है।

तो भूखे ! क्या तुममें यह त्याग है ? तुम्हारे स्वामी, तुम्हारा साहू, तुम्हारा सर्वस्व ले लेता है यहाँ तक कि तुम्हें सालभर एक जून खाने तक को भी नहीं छोड़ता। तुम्हारे परिवारवालों को भूखों रख कर तुमको भूखों काम पर खटा-खटाकर तुम्हारे क्षीणकाय बच्चे का—तुम्हारा तथा तुम्हारी अर्धनग्न स्त्री का रक्त, जोंक जैसा सोख लेता है। और तुम, तुम्हारा बच्चा तथा तुम्हारी पत्नी धूप और लू से पिचके हुए मुरझाये और सूखे

हुए आम के टिकोरे की तरह विकसित होने के पूर्व ही निःशेष जीवन कर दिये जाते हैं। क्या अपने इस शोषण, इस चोरी, इस छीना-झपटी को ही, तुम अपना त्याग कहते हो? क्या तुम स्वामी के हित के लिये भय से विवश होकर दिन-रात भूखे-प्यासे परिश्रम करने को ही अपना त्याग मानते हो? नहीं भूखे! नहीं! यह तुम्हारा त्याग नहीं। यह तो तुम्हारी विवशता है। यह तुम्हारे स्वामी की चोरी और तुम्हारा शोषण है। तुम्हारी दीनता का अभिशाप तथा तुम्हारी अज्ञानता का क्रोध और तुम्हारे पतन का परिशोध है। अथवा इसे तुम अपने आत्म-ज्ञान के अभाव का परितापपूर्ण प्रतीक कह सकते हो। यह त्याग कैसा भूखे?

हाँ तुम्हारा वह त्याग त्याग है—महात्याग है—जब चार शाम उपवास करने के बाद मालिक के भण्डार से चार सेर अन्न पाकर खुशी-खुशी घर आते समय तुम्हारा एक भीखमंगे से साक्षात्कार होता है और तुम उसकी ग़रीबी से द्रवित हो अपने अन्न को उसे देकर प्रसन्न मन घर आ, घरवाली को गाथा सुना उसे भी प्रसन्न करते हो। वही त्याग तुम्हारा त्याग है भूखे! उसमें सच्ची सहानुभूति है—सच्चा प्रेम है हृदय की वेदना की प्रेरणा है। और है अन्तरानन्द तथा स्वेच्छा का पुट—उसमें किसी तरह की विवशता, मजबूरी नहीं—छीना-झपटी नहीं—आनन्द—एक मात्र आनन्द स्वेच्छा, सहानुभूति, दया बस इससे परे कोई विकार नहीं—कोई दवाव नहीं।

तो तुम अपनी सामूहिक भलाई और अपनी गरीबी की दवा करते समय अपने शोषण को शोषक से छीनने की योजना में सचेष्ट होते समय अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का विचार करने लगते हो। शोषक की तुष्टि-रुष्टि के भय से अवसर देख ठीक मौके ही पर चुप हो जाते हो। सत्य को पहचान करके भी भय के मारे अपने हकों और अधिकारों को छोड़ देते हो, अपने पौरुष, पराक्रम और संगठन पर विश्वास जमाना नहीं जानते बल्कि अपने असली रूप को भी पहचानना भूल जाते हो। अपने को पहचानना ही तो सबको जानना है। तुम उस महाबली गजराज की तरह अपनी शक्ति को भूल गये हो, जो अपने सर पर बैठे हुए निर्बल महावत के पैर के इशारे पर सदा चलते रहना ही अपना कर्तव्य और धर्म समझता है। तुम समाज के अन्नदाता हो। तुम्हारे ही परिश्रम पर संसार का यह सारा वैभव, ऐश्वर्य, जीवन के ऐशो इशरत, कानून की लूट-खसोट, और राजनीति की ऐंठ का अस्तित्व है। आज तुम अन्न देना बन्द कर दो, जगत के झूठे प्रलोभन को भूल जाओ, अपने खेत का अन्न खाओ और अपनी रुई का कपड़ा पहनो तो फिर संसार से तुमको क्या उधार माँगने को रह जायगा ?

क्षुद्र स्वार्थ का भय

कपड़ा और अन्न ही तो जीवन के लिये आवश्यक वस्तु हैं, और तो सब मस्तिष्क के प्रपञ्च ; बेकार समय के दिमागी ऐयाशी के प्रतिफल मात्र हैं ; चतुर मस्तिष्क की इजाद की हुई वासना की सामग्री हैं।

तुम महाचित् की चेतनता हो—तुम वही हो जो सिंहासन पर बैठा हुआ तुम्हारा सम्राट है जिसको उसके एजेण्टों या दलालों ने अपनी कमीशन के लोभ में तुम्हारे सामने ईश्वर कहा है। 'दील्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' की उपाधि दे रखी है। फिर तुममें और उसमें अन्तर ?

बादशाह और भूखा एक हैं

वह भूख की ज्वाला को जाग्रत करने की चेष्टा में, दावतों की अजीर्णता मिटाने और बढ़ाने के लिये पचासों-हज़ारों कीमती शैम्पियन की बोतलें, पचासों सैकड़ों मित्रों की ऐयाशी में रात-रात भर जगकर तोड़ डालता है और तुम भूख की विशद ज्वाला को बुझाने के फेर में दिन-दिन भर रात-रात भर कर एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर उसके मीलों में—उसके फार्मों तथा खेतों में खटा करते हो। और जब उससे भी तुम्हारी स्त्री बच्चों का पेट नहीं भरता, तब तुम उसकी दावतों के केन्द्र, होटलों के सामने सड़कों पर, पार्टी और डैन्स हाल के फाटकों पर, कड़ाके के जाड़े में उच्छिष्ट अन्न को पाने की लालसा में रात व्यतीत कर देते हो। पर तब भी तुम्हारी क्षुधा की अग्नि नहीं बुझती। बस; अन्तर इतना ही सा है! नहीं तो उसके रक्त-मांस और भूख-पिपासा में और तुम्हारे रक्त मांस और क्षुधा-प्यास में कोई अन्तर नहीं है। तुम नही जानते, तुम वही हो जो तुम पर शासन करनेवाला, तुम्हारी पीठ पर चाबुक मारनेवाला तथा घर में बेकार बैठा-बैठा तुम्हारे परिश्रम पर जीनेवाला, तुम्हारा मालिक साह और महाजन है। उसमें और तुममें कोई भेद नहीं। बल्कि तुम उसके भी अन्नदाता हो। तुम परिश्रम करके अन्न पैदा करते

हो तो उसकी उदरपूर्ति होती है। परन्तु वह तुमको इस अन्न-दान के विनिमय में क्या देता है ? सोचो तो ? वह देता है तुम्हें केवल खुराफ़ात की चीजें—जिनको तुम्हारी वासना को भड़काने के लिये, तुम्हारे चञ्चल मन को लुभाने और रुपये ठगने के लिये, तुम्हारे ही परिश्रम से जमा हुए रुपयों के बल पर बने हुए अपने मशीन के कारखानों में तुम्हारे सहयोग से बनवा कर वह तैयार करता है।

भूख का कारण रुपया

ओह ! रुपया, रुपया का आविष्कार वासना की भूख के आविष्कार का कारण है। आदान, प्रदान, वहन, विनिमय की सहूलियत के लिये रुपया बना। लेकिन उसी ने गरीब की अतृप्त भूख को भी पैदा किया। जिस दिन समाज में रुपया आया उसी दिन सरकार की शक्ति बढ़ी। और उसी के साथ ही रुपये के अभाव-वालों के पेट में भूख की ज्वाला धधकी। जो आज महाज्वाला का, प्रलय-ज्वाला का रूप धारण करनेवाली है। ओह, संसार की सरकारें—इतने असंख्य नर-नारियों को भूख की ज्वाला, क्षुधा की अग्नि में तड़पा-तड़पा कर क्या एक दिन प्रलय की ज्वाला को नहीं बुलावेंगी ? प्रकृति का तो नियम अतिशयता को विनाश करना है। क्या संसार के असंख्य नर-नारियों की भूख आज अतिशयता को नहीं प्राप्त कर चुकी है ? भूखे ! तुम्हीं बताओ न ! इतना सुनने पर भी तुम्हें नहीं विश्वास होता है और साहस नहीं बँधता। आशा करो ! आशा श्रद्धा को जन्म देती है, श्रद्धा में विश्वास है और विश्वास और आशा पौरुष को, पराक्रम को,

उद्योग को, कर्म को, ज्ञान को, चेतनता को जन्म देते हैं। तुम क्यों निराश होते हो भूखे! क्यों क्षुद्र स्वार्थ के पीछे अपना सर्वनाश बुला रहे हो?

तुम्हारा कर्तव्य आज शोषण-प्रणाली के विरुद्ध, पाप और अन्याय, असत्य और अत्याचार के खिलाफ़, सत्य और न्याय प्रेम और अहिंसा की रक्षा में अपनी मुक्ति के लिए, त्याग का अस्त्र उठाना और अपने सर्वस्व, अपने जीवन तक को हँसते-हँसते त्याग देना है। और यही त्याग तुमको सब कुछ प्रदान करने का कारण होगा, तुम्हारी भूख की ज्वाला को नष्ट करने का उपादान बनेगा।

सेवा का ढोंग

हाँ तो अब सेवा—सेवा तुम्हारे सामने अपरिचित नहीं। तुम हजारों पीढ़ियों से सेवा करते चले आ रहे हो। तुम्हारे रग-रग में इस सेवा का भाव भरा हुआ है। तुम्हारी प्रकृति ही सेवामय हो गयी है। पर तुम्हारी यह सेवा आज तक विवशता की सेवा रही है, डण्डे की मार के भय की, लात-जूते के डर की, विवश दशा की—एक मृत्यु की सेवा रही है। इसमें भला मेरी कही हुई सेवा की महत्ता कहाँ? तुम सेवा नहीं, गुलामी करते हो! तुम्हारी यह सेवा तुमको पशु, पापी, दीन, निर्जीव, दुर्बल और निर्धन बनाती है। पर मेरी कही हुई यह सेवा—महात्माओं की बतायी हुई सेवा है यह हमें मनुष्य, पुण्यात्मा, सबल, सजीव, साहसी और धनी बनाती है। अब विचार करके देखोगे तो तुम्हें ज्ञात होगा कि इस सेवा में और तुम्हारी दासता की अवस्था

की सेवा में कितना बड़ा अन्तर है। तुम्हारी दासता भूख की विवशता में दो कौर अन्न के लिये दासता है जिसको तुम सेवा समझते हो ; पर वास्तव में यह सेवा अन्तरात्मा की प्रेरणा से स्वेच्छापूर्वक त्यागमयी निष्काम सेवा है। इसमें विवशता नहीं अन्त.प्रेम और स्वेच्छा की प्रेरणा है—स्वार्थ नहीं, त्याग और दया की भावना है। तुम्हारी दासता की दशा की इस सेवा में तो परेच्छा की पूर्ति में, अपने क्षुद्र स्वार्थ की कामना में सेवा का ढोंग-मात्र है—प्रेम और त्याग नहीं—दया और लगन नहीं। पर मेरी कही सेवा में देना है, लेना नहीं। सेव्य की भलाई आन्तरिक कामना से अपने से प्रेरित होकर, अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये। और महात्मा सेवा करता है सेव्य की वास्तविक रिक्तता की पूर्ति के लिये, अपना सर्वस्व त्याग करके सेव्य को सुख पहुँचाने की भावना से। सेव्य की आवश्यकता की पूर्ति हो, उसे सुख मिले बस इतना ही, इससे परे कुछ नहीं। उसे इसी से आनन्द मिलता है, उसकी अन्तरात्मा को इसी से तुष्टि होती है ; पर यह आनन्द, यह सन्तुष्टि उसे सेव्य से नहीं प्राप्त होती। इन्हें तो वह विना इच्छा के अपने त्याग और सेवा करने के प्रति-फल में ईश्वर से, ईश्वरीय नियम के अनुसार पुरस्कार के स्वरूप पाता है। जो अवश्यंभावी है, जिसे वह यदि न भी लेना चाहे तो अवश्य दिया जायगा।

तुम्हारी सेवा धनी की, सबल और सम्पन्न की गुलामी है, उसकी आज्ञा के पालन की सेवा है। और महात्मा की सेवा निर्धन की, निर्बल, दीन, दुःखी, भूखे और असम्पन्न की सेवा है जिसमें केवल देना—देना भर है लेना नहीं। तुम पर मालिक

आज्ञा देता है और महात्मा अपने देने के बल से सेव्य पर ही उसकी हितकामना से, उसकी भलाई के लिये हुकूमत करता है।

बस, महात्मा की सेवा में और तुम्हारी पीढ़ी दर पीढ़ी से आई हुई सेवा की विख्यात गुलामी में यहीं अन्तर है। भूखे! तुममें अन्तर प्रेम का, अन्तर शुभकामना का अभाव है, इससे तुम्हारा हृदय उस सेवा का आनन्द इतना खटने पर भी नहीं अनुभव करता। दोनों दुःखी, स्वामी भी दुःखी, सेवक भी दुःखी। पर महात्मा की सेवा में दोनों सुखी और प्रसन्न हैं। महात्मा अपने त्याग के पुरस्कार में ईश्वरप्रदत्त आनन्द में और सेव्य महात्मा ऐसे सेवक पाकर उसके द्वारा अपने अभाव की पूर्ति में। फिर बताओ तो भूखे! तुम इस महात्मा की सेवा को पसन्द करोगे—जिसमें सब आनन्द ही आनन्द है, या उस गुलामी को जिसमें सदा के लिये कराहना है, रुदन है, चीखना और तड़पना है।

मानवता का अभिशाप

नहीं जानते कभी मनुष्यों का बाजार लगता था। गुलामों को ग़रीब और दुःखियों को, अभाव-पूर्ण मनुष्यों तथा पेट-जले भूखों को, समाजपति खुलेआम—धनिकों के हाथ पेट-भरे लोगों के हाथ, आजन्म गुलाम रहने के लिये, उनकी सेवा-शुश्रुषा करने और उसके सामने सदा दीन बने रहने के लिये बिकवाता था। ऐसा उसका कानून था। इसी से निर्धनता अभिशाप बन गयी, लेकिन प्रजातन्त्र के शासन में वह अभिशाप दिखाऊ रूप में तो उठाया गया पर अप्रत्यक्ष रूप में उससे भी बढ़ गया। धन

की प्रधानता जब तक संसार में वर्तमान रहेगी तब तक संसार की निर्धनता दूर नहीं होगी।

एक न एक रूप में निर्धन सदा सताया जाता रहा। उधर गुलामी की प्रथा उठी तो इधर जड़वादिता का—मशीन का आविष्कार हुआ। उस समय गुलाम को भर पेट रूखा-सूखा खाना पेट की जलन शान्त करने के लिये तो अवश्य मिल जाया करता था। क्योंकि गुलाम का स्वामी चेतन था। उसे भोजन देना ही पड़ता था। वह गुलाम के पेट में कुछ न कुछ डालना अपना कर्तव्य समझता था। लेकिन, यह मशीन और यह जड़वादिता तो निर्जीव हैं। इनका तो दूसरे के मुख की रोटी को छीनना भर कर्तव्य है। चाहे वे जीएँ या मर जायँ। गुलामी की प्रथा में मनुष्य की मनुष्यता जितनी अपमानित जितनी तिरस्कृत और नारकीय नहीं बनी थी, उतनी आज इस सभ्य और उन्नतिशील मशीनवादी और जड़वादी सभ्यता के समय में बन गयी है। आज संसार को इतनी बड़ी मनुष्य संख्या के मुख की रोटी मशीन ने छीनकर चन्द पूँजीपतियों के पास जमा कर दी है। अमेरिका आदि सभ्य देशों में जहाज के जहाज नारंगी आदि खाद्य-पदार्थ धनिकों द्वारा समुद्र में इसलिये डाल दिये जाते हैं कि, बाजार भाव पर नियन्त्रण रहे, और वहीं निर्धन लाखों की संख्या में उसे देखते हुए, तरसते हुए, भूखों मरा करते हैं—यही नहीं बल्कि वही उसे टोकरिओं में भर-भरकर जहाजों पर लादता है और एक नारंगी भी निकालकर खा नहीं सकता। खावे तो चोरी की दफ़ा लगे और उसी अपराध में उसे कारागार का दण्ड भोगना पड़े। लेकिन यह दफ़ा उस धनिक चोर के लिये नहीं लागू है, जो दिन

दहाड़े अपनी धूर्तता और चालाकी से निर्धन का धन चुरा-चुराकर अपना उल्लू सीधा करता है और आप सभ्य बना इसी चोरी को व्यवसाय का नाम देता है।

समुद्र का पेट तो जहाज के जहाज फलों से बिना मूल्य लिये भर दिया जाय और मानव जाति के सगोत्रीय प्राणी का—भूखे का पेट खाली रखा जाय—ज्वाला से निरन्तर जला करे! हाय री मानव सभ्यता! यह सभ्यता किधर जा रही है? ऐसे समय में यह सब सुन और जानकर भी, तुम क्यों चुप हो भूखे! तुम इस मानवता को इस नारकीयता को क्यों निष्क्रिय ही चुपचाप देखा करते हो और क्यों मौन बनकर सब कुछ सहा करते हो?

भूखे, तुम्हारा संहारक रौद्र रूप क्यों नहीं आज प्रकट होता? क्यों नहीं क्रान्ति होती और नररक्त की धारा बहती? भूख का वास्तविक रूप तो रौद्र ही है, संहारक और क्रान्तिपूर्ण है न?

हम अतीत की—पाशविक सभ्यता को, नादिरशाह के कत्ले आम को, औरंगजेब की खूँरेजी और साम्प्रदायिकता को, पोपों की धाँधली और विलासिता को, तथा राजा निरो के अग्नि-काण्ड इत्यादि को सुनकर दाँत पीसते हैं, उन्हें पशु, असभ्य कहते हैं। लेकिन कल का इतिहासकार यदि आज की उन्नत सभ्यता का इतिहास लिखने बैठेगा और उसकी पूर्ववर्ती सभ्यता से तुलना करेगा तब वह इस आधुनिक सभ्यता को पहले की बर्बर कही जानेवाली सभ्यताओं से कहीं अधिक नारकीय पशुवत, अमानुषिक और अव्यवस्थित तथा अशान्तिपूर्ण और साम्प्रदायिक आदि लिखने पर बाध्य होगा। मनुष्य जाति अपनी उन्नति की,

मृगतृष्णा के पीछे अनादि काल से, अपनी वासना के संस्कारों से प्रेरित हो दौड़ती चली जा रही है पर वह उन्नति, उस ख्याली मृगतृष्णा की मरीचिमाला में यहाँ से वहाँ दीखती हुई सदा अदृश्य ही होती चली जा रही है। यही है मानव पौरुष की मानवता ?

आज रचकर स्वप्न का संसार
फूँक देता कल मनुज लाचार,
और तव अवशेष भस्म वटोर
पग वढ़ाता फिर सृजन की ओर।
फिर सृजन फिर ध्वंस का त्यौहार,
साँझ धूमिल भोर का शृङ्गार।
एक छवि होती अपर में लीन,
खोजता मानव सदैव नवीन।
सृष्टि का भूषण कहाकर हाय,
हो रहा मानव विफल निरुपाय।
तृप्ति का फल खोजते सव ओर,
आ रहा तज शृङ्ग जड़ की ओर

—'दिनकर'

हाँ, तो अहिंसा ? सामाजिक रोग के इस निदान और उपचार के वाद अव हमारे सामने एक मात्र औषधि अहिंसा

हिंसा और अहिंसा

वच रहती है। समाज-व्यवस्थापक ने अनेकानेक दवाइयाँ, अनेकानेक प्रयोग समाज के रोग को दूर करने के लिये किये किन्तु सव व्यर्थ ! उन्होंने हिंसा के वल पर असंख्य

असंख्य सेना तैयार की, परन्तु वे शत्रु के लिये संहार-कारक सिद्ध होकर भी अपने सर्वनाश का कारण बनने से बच नहीं सकीं। शत्रु के रक्त से रँगी हुई वे तलवारें काल से प्रेरित हो, समय पाकर अपनी ही गरदन की ओर घूम पड़ीं। बस, वीरों की वीरता शत्रु को मारकर अपनी ही गरदन काटने लगी। यादवों का बल विजयी होकर भी यादवों का सर्वनाश करनेवाला हुआ। भगवान कृष्ण एक व्याधा के शर से आहत हुए, अर्जुन भीलों से परास्त हुआ। इस तरह प्रकृति का कार्य कारण न्याय सदा सफल होता रहता है।

हिंसा का अभाव अहिंसा है। हिंसा जड़ जीवन को पुष्ट करती है। पर अहिंसा अन्तर चेतन को, जो सम्पूर्ण जीवन का कारण है सबल बनाती है। अन्तर चेतन की पुष्टि के अभाव से ही तो जीवन में, समाज में इतने रोग आज दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हिंसा को जड़ शरीर की पुष्टि के लिये कोई स्वार्थवश भले ही आवश्यक मान ले, पर चेतन को पुष्ट और प्रस्फुटित करने के लिये, जिस पर ही जड़ शरीर के जीवन का विकास और प्रस्फुटन भी आरोपित और निर्भर है, अहिंसा की आवश्यकता नितान्त अनिवार्य है—मान्य है। बिना अहिंसा के चेतन का, आत्मा का, जो कुछ भी विकास होगा, वह आगे चलकर एक महारोग का कारण बनेगा, जो उसे ही नहीं—उसके जड़ शरीर को ही नहीं—बल्कि अपने चारों ओर भी अपना विनाशकारी प्रभाव डाले बिना नहीं रहेगा। पर राजनैतिक शान्ति-स्थापन के लिये यह हिंसा ही आज तक काम में लायी गयी है। समाजकर्त्ता ने आज तक

इस हिंसा के ही द्वारा समाज में शान्ति स्थापित करने की व्यवस्था की है। और जब-जब इस हिंसा में दूषण उत्पन्न कर, इसे लोगों ने अति की पराकाष्ठा को पहुँचाया तब-तब प्रकृति ने भी इसके विनाश के लिये इसी हिंसा का सहारा लिया। देवासुर-संग्राम, ब्राह्मण-क्षत्रिय युद्ध, महाभारत, शास्त्रों के पन्नों में आज भी पड़े हैं। ऐतिहासिक काल में भी जब इस हिंसा ने अति को प्राप्त किया, तब भगवान बुद्ध ने जन्म लिया—अशोक की हिंसा अहिंसा में परिणत हुई। अशोक के साम्राज्य ने शोक को दूर किया। पर फिर काल के गर्भ से आततायी के व्यभिचार ने जन्म लेकर बुद्ध की अहिंसा को भी मटियामेट कर दिया, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार आ गया था। व्यभिचार ही तो विनाश का कारण है।

फिर शंकर की डुग्गी पिटी, उन्होंने भी कोरे ज्ञान के उपदेश से देश को निर्जीव तथा नीरस बना दिया। तब रामानुज ने उस नीरसता को सींचने के लिये भक्ति का स्रोत बहाया। पर वह स्रोत भी अपने व्यभिचार और आचार के आडम्बर की बाढ़ के साथ इतना बढ़ा कि उसने देश को ही डुबा डाला। वीरों की वीरता, कायरता में परिणत हुई सच्चे सत्य, प्रेम, और दया रूपी रस के अभाव में ज्ञान और भक्ति का व्यभिचार शुरू हुआ। यहाँ तक कि अन्त में अध्यात्मवाद का नाम आचारवाद पड़ा। आचार ही धर्म, और धर्म अधर्म बन गया। बस, पतन, और महापतन। सिद्धान्त का पतन ही तो मनुष्य जाति का वास्तविक पतन है। इसी से महात्मा देश को सिद्धान्त का उपदेश देता है

और उसके आत्मिक विकास को पुनः वापिस लाना चाहता है। इसी से महात्मा की इस अहिंसा में सार्वभौम सत्य, ज्ञान, प्रेम, और दया के पुट हैं। ज्ञान, प्रेम और दया के अभाव में अहिंसा धनिक जैनियों और ऐश्वर्य्यशाली वैष्णवों की दिखाऊ अहिंसा बन जायगी, जो प्राणी के प्राण की तो रक्षा करती है, पर उसके पोषण की क्रिया का शोषण करती है। छदाम की चीनी पैसे के आटे के साथ चींटी को प्रदान कर साहुकार अहिंसा और दया का उदाहरण संसार के सामने पेश करता है। पर वही व्यवसाय की प्रतिद्वन्द्विता में अपने सगोत्री मनुज का रक्त इस निपुणता से सोख लेता है कि वह गरीब संसार में फिर पनपने के योग्य नहीं रह जाता। वहाँ उसके लिये तो हिंसा ही उसका व्यवसाय है। इसी पर उसके उदर की पूर्ति है। और इसलिये इस अहिंसा-वादी के सामने यह हिंसा हिंसा नहीं। समाज के जोंक रूपी रुपया ने मनुष्य को अपने स्वाभाविक परिश्रम से दूर हटाकर कितने विभिन्न नीच व्यवसायों में बाँट दिया—और उसे किस पतन के गड्ढे में ढकेल दिया, यह कौन बतावे ?

हाँ तो तुम कहते हो कि अहिंसा कायरों का अस्त्र है—अपनी निर्वलता को छिपाने के लिये निर्वल का परिधान है तथा शक्ति के अभाव में ढोंगी की कपोल-कल्पना है। पर मैं कहता हूँ नहीं—यह ऐसा नहीं है। इसमें वह वीरता है—वह निर्भीकता, और साहस तथा दिलेरी है जो बड़े से बड़ा हिंसावादी योद्धा में भी नहीं मिलेगी।

शत्रु के सामने विना अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर जाने में

अधिक वीरता, साहस, और पराक्रम है। उसमें अपनी रक्षा के लिये न तो बचानेवाली कोई सामग्री है; और न शत्रु पर वार करने के लिये किसी आयुध की आवश्यकता है। वहाँ अपनी सत्य शुभकामना ही शत्रु स लड़ने के लिये एकमात्र आयुध है। प्राणि मात्र में आत्मा की एक चेतन शक्ति है, जिसकी व्यापकता अखण्ड है। शत्रु के हृदय की उसी चेतना को व्यक्ति की सत्य शुभकामना द्वारा—अहिंसा जाग्रत करती है। आत्मा की सदिच्छा में बड़ी ही प्रबल शक्ति है। एक व्यक्ति की निर्विकार आत्मा की शुभकामना अपनी इच्छा-शक्ति की प्रबलता से संसार भर के प्राणी के हृदय में हलचल मचा सकती है। शत्रु से किये गये आत्याचार के विरोध में, अपने आत्म-सम्मान की रक्षा में, अपने और शत्रु दोनों की शुभकामना से, निःस्वार्थ भाव से प्रेरित और अहंभाव से रहित होकर यदि हम शत्रु के अस्त्र-शस्त्रों के सामने अहिंसक बन कर जायेंगे, तो यह कभी सम्भव नहीं कि शत्रु के हृदय की आत्मा की चेतना जाग्रत होकर उसको सद्बुद्धि न प्रदान करे। एक दो अवसर पर भले ही वह भूल कर जाय पर अन्त में वह अवश्य समझेगा। किन्तु हाँ, यदि स्वार्थभाव को लेकर, विकारयुक्त हृदय से ग्रसित होकर—यदि अहिंसा का असत्य ढोंगी रूप रचाये हुए हम शत्रु के सम्मुख जाएँगे तो उस दशा में आत्मा की व्यापक चेतना न तो अपनी ही आत्मा में जाग्रत होगी और न शत्रु की आत्मा की व्यापक चेतना पर ही कोई वैसा प्रभाव डालेगी।

अतः सच्ची अहिंसा में कायरता का अस्तित्व असम्भव है।

खीस निकालते हो, उसकी जूतियों को चूम करके हाथ पसार रोटी की भिक्षा माँगते हो, और अपने अहिंसावादी बनने के घमण्ड में फूल उठते हो, वह अहिंसा अहिंसा नहीं— वह तुम्हारा झूठा दर्प और भ्रम मात्र है। वह न तो हिंसा है और न अहिंसा ही। वह तुम्हारे हृदय की छिपी हुई कायरता है, पाप और कालिमा है, जो तुमसे झूठा घमण्ड करा रही है। तुम्हारा हृदय चाहता है कि तुम अपने शोषक के कलेजे पर बैठकर तृप्ति का स्नान करो—तुम अपने भक्षक से अपने खून का बदला लेने के लिये हृदय के हृदय में अज्ञात रूप से चाहा करते हो, पर अपनी विवशता, अपनी असहायता तथा निर्बलता से विवश होकर क्षुद्र पेट की भूख को तृप्त करने के हेतु उसके सामने अहिंसा का ढोंग रचकर उसके अन्याय और अत्याचार को शिरोधार्य करते हो। कोई विरोध, कोई प्रतिरोध और मुकाबला नहीं—बल्कि Submission, आत्मसमर्पण झुकाव, एक मात्र झुकाव—आत्मसम्मान को भूलकर अपने और अपनी आत्मा को भूलाकर शत्रु का पाँव चुम्बन करते हो। छिः कितनी नीच, कितनी हेय वृत्ति है यह भूखे! तुम मालिक की चापलूसी में उसकी झूठी बातों का—अत्याचार का विरोध न करके उसका समर्थन करते हो। अपने सगों का—अपने कुटुम्ब, परिवार, मुहल्ला, गाँव और जवार का उस अत्याचार से चाहे सर्वनाश ही क्यों न हो जाय, पर तुम दो चमकते हुए रुपयों के लोभ से वैसा करने पर मजबूर हो—तुम्हारा हृदय चिल्ला-चिल्लाकर तुमको वैसा न करने के लिये कहा करता है—पर तुम उसकी अनसुनी करके अपने सर्वनाश के पथ पर क्षुद्र स्वार्थ के लोभ में चला करते हो—अब

बताओ भूखे! तुम्हारी अहिंसा महात्मा की अहिंसा से कितनी भिन्न है? और तुम इसी का गर्व करते हो?

शासन-प्रणाली का परिचय और पोल

हाँ तो इसी तरह अपने प्रेम को भी समझो। तुम में प्रेम है या नहीं यह तुम अपने हृदय से पूछ देखो। तुम कहते हो कि मैं अपने मालिक से, अपने राजा और देश से प्रेम करता हूँ—अपने कुटुम्ब, परिवार, और गाँव का प्रेमी हूँ। पर मैं कहूँगा कि नहीं, तुम्हारा अपने मालिक के प्रति प्रेम या अपने राजा के प्रति राजभक्ति, स्वेच्छा-पूर्वक नहीं विवशता की दशा का प्रेम है। अपनी मजबूरी से विवश होकर तुम अपने अन्नदाता से प्रेम करने का स्वांग भरते हो। तलवार की धार और संगीन की नोक के भय से तो तुम अपनी सरकार की हुकूमत मानते हो और अपने प्रेम को लाख-लाख रूपों में प्रदर्शित करते हो। उसकी साल गिरह में, उसकी राजगद्दी के अवसर पर; नाच कूदकर तुम दिखाना चाहते हो उसके एजेण्टों को, उसके पुलिस अफसरान को कि तुम में स्वामी का प्रेम बहुत है—राजा की—सरकार की भक्ति अनन्य है। प्रतिनिधि के चुनाव में जो तुम झुंड के झुंड में लारियों पर चढ़कर किसी एक को वोट देते हो और उसकी जय मनाते हो, उसमें क्या तुम्हारे हृदय की प्रेरणा, अन्तस्तल का प्रेम या मस्तिष्क की समझ है? नहीं, उसमें रुपये के लोभ की, तंग किये जाने के भय की, या किसी निजी स्वार्थ की, वह लालच भरी प्रेरणा है जो तुम्हारे मन में खड़े हुए व्यक्तियों की अनेकानेक चिकनी-चुपड़ी

प्रतिज्ञाओं और विज्ञापनों से, या उनके एजेण्टों की प्रलोभन भरी वार्ता से जाग्रत कर दी गयी रहती है। जिससे प्रभावित होकर तुम यह सब करते कराते हो। वास्तव में, यदि देखा जाय तो तुम्हारे चुने हुए प्रतिनिधि भी अन्य खड़े उम्मेदवारों की तुलना में किसी ख़ास विशेषता से विभूषित नहीं होते। हाथी के दाँत दिखाने के और, खाने के और होते हैं। प्रजातन्त्र कहने को तो प्रजातन्त्र है, पर वहाँ उसके पीछे एकमात्र एकाधिपत्य का बोलबाला है, पूँजीवादी की प्रेरणा और एक का राज्य है। तथाकथित प्रजातन्त्र—पूँजीवाद या साम्यवाद सब पेटभरों के चोचले हैं, भूखों को नियन्त्रित करने के नुस्खे हैं; कतिपय चतुर मनुष्यों के बहुतों को अपने शासनाधीन रखने के उपाय हैं। नहीं तो इनके जो रूप हमारे सामने हैं उनमें प्रजा की भूख के निवारण की सच्ची व्यवस्था कहाँ है भूखे? भारतीय संस्कृति के पौराणिक ऋषिओं ने वैदिक संघ शासन की बुराइयों से ऊबकर एकाधिपत्य शासन-प्रणाली का निर्माण किया जिसके शासन की बागडोर तो राजा और मंत्री के हाथ में रखी गयी पर उसके वास्तविक नियन्त्रण का अधिकार उस निर्लिप्त, त्यागी, ब्राह्मण सन्यासी को सौंपा गया जो अपना जीवन-निर्वाह खेत में छूटे हुए अन्न की बाली बिनकर करता था और इसीसे वह विधान अपनी उन्नतावस्था में आदर्श विधान रहा। पर उसके पतन ने भी उसकी निस्सारता प्रमाणित कर दी—उसकी निस्सारता अब उसके विनाश की आवश्यकता बताने लगी। समय ने संसार में किसी को भी अछूता नहीं छोड़ा! पर यह पाश्चात्य प्रजातन्त्र, मताधिक्य के आधार का प्रजातन्त्र, या साम्यवाद का

यह वर्तमान रूप क्या उसके रिक्त स्थान की पूर्ति कर सकेगा? उसका तो दिवाला जहाँ उसका जन्म था वहीं थोड़े ही दिनों में पिट रहा है; यहाँ वह किस बल के बूते पर अपना सिक्का जमा सकेगा? बल और गुण के आधार पर ही किसी का सिक्का कहीं जमता है। पर इनमें दोनों का अभाव है। आततायी का सिक्का समाज में सबसे पहले और सबसे जल्दी जमता है, पर क्या उससे तुम्हारी भूख दूर हो सकती है, भूखे? धूर्तता से सिक्का जमाना दूसरी बात है और वास्तविक भलाई करना दूसरी बात है। इसमें सिवाय स्वहित के परहित की भी कभी सम्भावना हो सकती है? प्रजा-तन्त्र संघ द्योतक अर्थ की खूबियों से सम्पन्न होकर ही कुछ कर सकेगा—कुछ समय के लिये टिक भी सकेगा। उसमें बहु के कल्याण के हेतु अल्प के स्वार्थ का अल्प के ही द्वारा स्वेच्छापूर्ण त्याग होना चाहिये, न कि सरकारी या कसी अन्य दबाव के जरिये से। सरकारी दबाव के जरिये लायी हुई समता अपने असली अर्थ की समता नहीं होगी। पर इसके साथ ही उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा भी पूरी होनी चाहिये, नहीं तो प्रजातन्त्र समूह के एकाधिपत्य के रूप में परिणत हो जायगा—समूह ही एक बन कर अल्प पर अत्याचार करने लगेगा, या स्वयं समूह के व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अपहरण से कष्ट होने लगेगा। और वही व्यक्ति फिर समूह की स्वच्छन्दता से ऊब उठेगा। रूस के साम्यवाद में साम्यवादी व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नितान्त अभाव है। समूह की हित-कामना में सरकार के जड़

और सख्त नियमों के सामने साम्यवादी की व्यक्तिगत अन्तर स्वतन्त्रता तलवार का भय दिखाकर अपहरण कर ली गयी है। इससे साम्यवाद के व्यक्ति के जड़ शरीर का पालन-पोषण होने पर भी उसके चेतन शरीर को आन्तरिक शान्ति, आन्तरिक स्वतन्त्रता नहीं मिलती, और जिस समूह के व्यक्ति के अन्तःकरण की स्वतन्त्रता, सुख, शान्ति तलवार दिखाकर छीन ली गई हों, उस समूह की मजबूती पर - उस वाद की सफलता पर, भला कौन शंका नहीं करेगा, भूखे ? ठीक यही दशा प्रजातन्त्र तथा एकाधिपत्यवादी यूरोप, और अमेरिका की या साम्यवादी रूस और उनके वादों को माननेवाले अन्य देशों की आज हो रही है।

इनमें से किसी भी वाद के शासन-प्रणाली में आन्तरिक सुख-शान्ति, जो व्यक्ति या समूह के जीवन के मुख्य अङ्ग हैं, नहीं है। वहाँ प्रत्येक गम्भीर से गम्भीर चेहरे के भीतर, उसके अन्तस्तल में ज्वालामुखी की महाविस्फोटक ज्वाला धधक रही है, जिसको वह कुत्तों, चिड़ियों और सजे-सजाये शून्य कमरे को प्रेम करके या अरबों रुपया इकट्ठा करके शान्त करना चाहता है। आन्तरिक शान्ति के लिये, जिस पर ही वाह्य शान्ति भी निर्भर करती है, प्रेम, सत्य, और निःस्वार्थ भावना की आवश्यकता है। पर प्रेम में त्याग है, और त्याग का अर्थ अपने को भूलकर अपने जीवन तक को प्रेम की वेदी पर निछावर कर देना है। पर वहाँ उन जड़वादी वादों में व्यक्तिगत सुख और ऐहिक कामना की ही प्रधानता है। वहाँ सुख हो तो कैसे हो ? और त्याग के अभाव में सत्य प्रेम का

अंकुरित होना ही कैसे संभव हो सकता है? अत: पति-पत्नी, पिता-पुत्र माता, भगिनी का प्राकृतिक वात्सल्य प्रेम भी वहाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं होने पाता। विकसित होने के पूर्व ही वह सामाजिक जड़ नियमों से कुचल डाला जाता है। वहाँ स्वार्थ की दौड़ (Rush) स्वार्थ की प्रतिद्वन्द्विता (competition) इतनी अधिक है कि व्यक्ति को दिन के २४ घण्टे भी काफी नहीं ; जड़वाद की धूम, जड़वाद की प्रतिद्वन्द्विता (competition) इतनी वढ़ी-चढ़ी है, वासना और उपार्जन का लोभ इस तरह प्रवल है कि अन्तस्तल की भावनाओं का खून वहाँ क्षण-क्षण हुआ करता है! वहाँ वस्तु चेतन जीवन पर भी प्रधान हो गयी है। इसी से कह रहा था भूखे! कि तुम इन चकाचौंध पैदा करनेवाली, सब्जवाग दिखानेवाली, सिद्धान्तों की मृगतृष्णा के पीछे न दौड़। नहीं तो तू कहीं का नहीं रहेगा। जानता नहीं, इन वादों ने आज यूरोप और अमेरीका या इन वादों के अनुयायी अन्य देशों में वारूद गोले को घर-घर की नींव में इस अधिकता से जमा करना शुरू कर दिया है कि खाते-पीते, सोते, उठते-बैठते जब कभी भी उसमें चिनगारी लग जाने की सम्भावना है और उससे उनके देश ही भर का नहीं वल्कि सारे यूरोप और संसार का स्वाहा हो जायगा। उनकी वासना तृप्ति के पापों का—स्वार्थ का घड़ा आज लवालव भर गया है, अव वह ढुलकने ही वाला है, भूखे!

यही दशा—ठीक यही दशा एकाधिपत्यवादी भारत में महाभारत के समय में थी। जड़वादिता की पराकाष्ठा, वासना और कामुकता का आधिक्य, स्वार्थ और अन्याय की भावना ने शस्त्रास्त्र

के विज्ञान को पराकाष्टा तक पहुँचा रखा था। फल हुआ कि एक साधारण-सी चिनगारी ने जो धर्मराज के हाथ की फेंकी हुई कौड़ियों के संघर्ष से उत्पन्न हुई, भारत के १८ अक्षौहिणी सेना का अठारह दिन में संहार किया और भारत का मेरुदण्ड सदियों के लिये तोड़ दिया।

इन कटु अनुभवों ने कृष्ण की गीता को जन्म दिया। जिससे अन्तर साम्य और वाह्य असाम्य के आधार पर समाज निर्माण का उपदेश मिला। अन्तर्जगत् में समता का भाव—जो महात्माओं के प्रेम, दया, अहिंसा, संयम, नियम, ब्रह्मचर्य्य आदि से साध्य है, और वाह्य जगत में असाम्य—जिसको हटाना प्रकृति के नियम के विरुद्ध, कर्म सिद्धान्त के प्रतिकूल, असम्भव कार्य है। प्रकृति की कोई भी दो वस्तु, दो व्यक्ति एक समान नहीं। प्रकृति के सभी वाह्य रूपों में अन्तर का होना ही सृष्टि के सृजन का मुख्य रहस्य है। इस विभेद की व्युत्पत्ति शायद प्रकृति के उस महा परिवर्तन के सिद्धान्त से सम्बद्ध है, जो क्षण क्षण में सृष्टि के वाह्य रूप में स्वतः हुआ करता है; जिससे सृष्टि के नित-नूतन होने का क्रम जारी रहता है। प्रकृति के अन्तस्तल में एक महाचेतनता है, जो अविनाशी और सर्वव्यापक है। उसी महाचेतनता की सर्वव्यापकता के कारण से प्राणी मात्र की चेतनता में भी परस्पर अन्तः साम्य है, एक अन्तरानुभूति और अन्तस्थ ज्ञान की समता है। अतः चेतन जगत के प्रत्येक प्राणी की साम्य-भावना ही प्रत्येक प्राणी के प्रति समभावना रखने का तर्क उपस्थित करती है ईश्वरीय सिद्धान्त का यही नियम है, इसका

अंकुरित होना ही कैसे संभव हो सकता है ? अतः पति-पत्नी, पिता-पुत्र माता, भगिनी का प्राकृतिक वात्सल्य प्रेम भी वहाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं होने पाता। विकसित होने के पूर्व ही वह सामाजिक जड़ नियमों से कुचल डाला जाता है। वहाँ स्वार्थ की दौड़ (Rush) स्वार्थ की प्रतिद्वन्द्विता (competition) इतनी अधिक है कि व्यक्ति को दिन के २४ घण्टे भी काफी नहीं ; जड़वाद की धूम, जड़वाद की प्रतिद्वन्द्विता (competition) इतनी बढ़ी-चढ़ी है, वासना और उपार्जन का लोभ इस तरह प्रवल है कि अन्तस्तल की भावनाओं का खून वहाँ क्षण-क्षण हुआ करता है ! वहाँ वस्तु चेतन जीवन पर भी प्रधान हो गयी है। इसी से कह रहा था भूखे ! कि तुम इन चकाचौंध पैदा करनेवाली, सब्जबाग दिखानेवाली, सिद्धान्तों की मृगतृष्णा के पीछे न दौड़। नहीं तो तू कहीं का नहीं रहेगा। जानता नहीं, इन वादों ने आज यूरोप और अमेरीका या इन वादों के अनुयायी अन्य देशों में बारूद गोले को घर-घर की नींव में इस अधिकता से जमा करना शुरू कर दिया है कि खाते-पीते, सोते, उठते-बैठते जब कभी भी उसमें चिनगारी लग जाने की सम्भावना है और उससे उनके देश ही भर का नहीं बल्कि सारे यूरोप और संसार का स्वाहा हो जायगा। उनकी वासना तृप्ति के पापों का—स्वार्थ का घड़ा आज लबालब भर गया है, अब वह ढुलकने ही वाला है, भूखे !

यही दशा—ठीक यही दशा एकाधिपत्यवादी भारत में महाभारत के समय में थी। जड़वादिता की पराकाष्ठा, वासना और कामुकता का आधिक्य, स्वार्थ और अन्याय की भावना ने शस्त्रास्त्र

के विज्ञान को पराकाष्ठा तक पहुँचा रखा था। फल हुआ कि एक साधारण-सी चिनगारी ने जो धर्मराज के हाथ की फेंकी हुई कौड़ियों के संघर्ष से उत्पन्न हुई, भारत के १८ अक्षौहिणी सेना का अठारह दिन में संहार किया और भारत का मेरुदण्ड सदियों के लिये तोड़ दिया।

इन कटु अनुभवों ने कृष्ण की गीता को जन्म दिया। जिससे अन्तर साम्य और बाह्य असाम्य के आधार पर समाज निर्माण का उपदेश मिला। अन्तर्जगत् में समता का भाव—जो महात्माओं के प्रेम, दया, अहिंसा, संयम, नियम, ब्रह्मचर्य्य आदि से साध्य है, और बाह्य जगत में असाम्य—जिसको हटाना प्रकृति के नियम के विरुद्ध, कर्म सिद्धान्त के प्रतिकूल, असम्भव कार्य है। प्रकृति की कोई भी दो वस्तु, दो व्यक्ति एक समान नहीं। प्रकृति के सभी बाह्य रूपों में अन्तर का होना ही सृष्टि के सृजन का मुख्य रहस्य है। इस विभेद की व्युत्पत्ति शायद प्रकृति के उस महा परिवर्तन के सिद्धान्त से सम्बद्ध है, जो क्षण क्षण में सृष्टि के बाह्य रूप में स्वतः हुआ करता है; जिससे सृष्टि के नित-नूतन होने का क्रम जारी रहता है। प्रकृति के अन्तस्तल में एक महाचेतनता है, जो अविनाशी और सर्वव्यापक है। उसी महा-चेतनता की सर्वव्यापकता के कारण से प्राणी मात्र की चेतनता में भी परस्पर अन्तः साम्य है, एक अन्तरानुभूति और अलक्ष्य ज्ञान की समता है। अतः चेतन जगत के प्रत्येक प्राणी की साम्य-भावना ही प्रत्येक प्राणी के प्रति समभावना रखने का तर्क उपस्थित करती है ईश्वरीय सिद्धान्त का यही नियम है, इसका

अनाचार प्रकृति के खिलाफ जाने का और सर्वनाश बुलाने का आदि कारण है। पर इस अन्तर साम्य की भावना को प्राप्त करने के लिये प्रेम, दया, अहिंसा आदि साधन हैं।

प्रेम की साधना अन्तर साम्य को प्राप्त करने की साधना है। प्रेम में वासना नहीं—वासना तुम्हारे जड़ शरीर की भावना है, जो सृष्टि के सृजन का—लोक संग्रह का प्रधान कारण है। वासना-जनित प्रेम स्वार्थ से पूरित है। पर स्वार्थ की भावना सत्य प्रेम की भावना से रिक्त है। सत्य प्रेम में जड़ जगत का स्वार्थ नहीं। उसमें यदि कोई स्वार्थ कहा भी जाय, तो वह अन्तर जगत की चेतन आत्मा की शुभकामना की तृप्ति भर का ही स्वार्थ हो सकता है। प्रेमपात्र के लिये शुभकामना प्रेमी के हृदय में इतनी अधिक उत्पन्न हो जाय कि वह उसको सफल करने के लिये अपने को भूल जाय, अपने अनेक दुःखों को विस्मरण करके, केवल प्रेमपात्र को निश्चल भाव से सुख पहुँचाने में ही अपना सुख मानने लगे—आनन्द उठाने लगे। उसका यही अपने प्रेमी के सुखप्राप्ति के अवसर का आनन्द—उसका स्वार्थ कहा जा सकता है, यदि इसी को स्वार्थ की संज्ञा दी जाय तो। इसमें स्व-भाव का अभाव है और एकमात्र परहित का ही शुभचिन्तन है। जो रूप प्रेम का वासना में है—वह प्रेम का विकृत रूप है। पर वही प्रेम वासना से रहित होकर निष्काम भी हो जाता है। जिस प्रेमी में निष्कामता जितनी ही अधिक होगी उसका प्रेम

प्रेम और वासना

उतना ही अधिक सत्य प्रेम होगा। वासना और प्रेम में अग्नि और धूएँ सा एक में मिला हुआ पर अलग-अलग सम्बन्ध है। वासना स्वार्थवश तब तक प्रेम के स्वाभाविक रूप को प्रकट होने से आच्छादित किये रखने में प्रयत्नशील और सफल रहती है तब तक प्रेम का असली निष्काम रूप उसमें विकसित नहीं हो पाता। जिस प्रकार अग्नि का रूप निर्विकार होते हुए भी धूम्र के कारण मलिन दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार वासनाग्रस्त प्रेम भी मलिन और विकारयुक्त प्रकट होता है। प्रेम में त्याग है—एकमात्र त्याग है—केवल देना है लेना नहीं—इस साधना के साथ प्रेम जब अपने असली रूप में प्रकट होगा तभी प्रेम ईश्वर है, अनादि और अगोचर है—आनन्द—परमानन्द है।

प्रेम का सच्चा रूप प्रेमी जयशंकरप्रसाद के शब्दों में यह है। क्या इस अर्थ को समझकर भी तुम इसे नहीं समझोगे ?

प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग विहारी होने का फल पावोगे।

× × ×

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें, कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबकी समता है,
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।

किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं,
अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।

× × ×

यह जो केवल रूपजन्य है मोह, न उसका स्पर्द्धा है,
इसका है सिद्धान्त मिटा देना अस्तित्व सभी अपना।
प्रियतममय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ ?
फिर तो रहा नहीं मन में, नयनों में, प्रत्युत जगभर में।
कहाँ रहा तब द्वेप किसी से, क्योंकि विश्व ही प्रियतम है,
जब ऐसा वियोग हो तो संयोग वही हो जाता है।
ये संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य तत्व रह जाता है,
आत्म समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

—'प्रसाद'



(पाँचवाँ सर्ग)

पेटभरे की भूख

मेरा पेट भरा है, क्योंकि मैंने कुछ किया है। तुम भूखे हो, क्योंकि तुमने कुछ किया नहीं। तब तुम क्यों मेरे सुख को देखकर, मेरे भरे पेट की हसद में दिन-रात जला करते हो, भूखे? तुमने कुछ नहीं किया इससे द्वेष में जलना ही तुम्हारा स्वभाव हो गया है। उस जन्म में या इस जन्म में मैंने अवश्य ही अच्छे कर्म किये थे—मैंने अवश्य ही कोई शुभ यज्ञ किया था, कि जिसका प्रतिफल आज भोग रहा हूँ। यदि तुम इसको नहीं मानते, तो तुम संसार के युग-युग के अनुभव में विश्वास नहीं करते। शुभ का फल शुभ, और अशुभ का अशुभ, संसार ने एक मत होकर कहा है। किसी भी अवतार ने, किसी भी महात्मा ने, किसी भी समाजनिर्माता ने, इसको इनकार नहीं किया है। मनुष्य के युग-युग का अनुभव ऐसा ही है। फिर तुम्हीं इसको अस्वीकार कैसे कर सकते हो?

कर्मफल

मनुष्य के बुद्धि-प्रधान होने का कारण ही यह है कि मनुष्य में उसके कर्म के फलाफल को भोगने का प्रकृति प्रदत्त नियम चालू रहे। वह नियम अन्य योनिओं में नहीं है—हो भी, तो हमें

अवगत नहीं। हम उसे न तो अनुभव ही कर सकते हैं— और न बुद्धि के तर्क से साबित ही हैं। लेकिन उन उनके निकृष्ट योनियों में जन्म लेने के कारण को हम उनके मानव योनि में अशुभ कर्मों का प्रतिफल मानते हैं। जिन लोगों ने इस कर्म-सिद्धान्त को नहीं माना है वे जी भी तो नहीं सके हैं। उनका मत पनप भी तो नहीं सका है। किसी न किसी रूप में इसको हर किसी को मानना ही पड़ा है - और पड़ेगा। व्यक्ति का कर्मफल व्यक्ति को भोगना पड़ता है—और देश का कर्मफल देश तथा विश्व का कर्मफल विश्व भोगता है। इसमें तुम्हारे हृदय के हृदय में भी शंका नहीं उत्पन्न हो सकती। तुम्हारे देश ने, तुम्हारी संस्कृति और सभ्यता ने इसे अनादि काल से माना है—इसी के बल पर तुम्हारी संस्कृति बनी है—तुम्हारी संस्कृति प्रारम्भ हुई है। तुम आज मरते हो और कल जन्म लेते हो क्यों ? कर्मफल की प्रेरणा से। क्या तुम किसी युग का, किसी भी समय का नाम बता सकते हो—जब तुम्हारी भूख और मेरे सुख न रहे हों ?

मेरे सुख और तुम्हारे दुःख अनादि काल से चले आते हैं। इतिहास के पन्ने उलटो, वेद, शास्त्र और पुराणों के ग्रंथ खोलो, एञ्जिल देखो, बाइबिल उठाओ, कुरान पढ़ो, पुरानी से पुरानी मानव जाति का इतिहास अध्ययन करो, कहाँ और कब नहीं तुम हो और कहाँ और कब नहीं मैं हूँ ? तुम्हारी भूख और मेरी सम्पूर्णता सदा से चली आ रही हैं। राम और कृष्ण के राज में भी भूख की नग्नता थी—अत्याचार की पराकाष्ठा थी। विश्वामित्र के श्वानमांस-भक्षण को—शम्बूक और बालि पर किये गये अत्याचार को—सुदामा के तंडुल को तुम अपनी कथरी

की आड़ में—या उनके ईश्वरत्व की ओट में छिपा नहीं सकते। साथ ही राम-रावण के ऐश्वर्य, कौरव, पाण्डवों की विभूति तथा यूनानियों और देवताओं की सभ्यता में भी तो रिक्तता और परिपूर्णता वर्तमान थीं। फिर वेद के उपाख्यान, पुराण की गाथायें, कृष्ण की गीता, शुकरात की फिलासफी, अरस्तु की व्याख्या, दर्शन के सूत्र, बुद्ध के पिटक, ईसा का बाइबिल, और मुहम्मद का कुरान भी तो रिक्तता और परिपूर्णता या भूख और अभूख के सदा से होने के साक्षी हैं। फिर राजा नीरो के अग्निकाण्ड, वीर सिकन्दर का रक्तपात, चन्द्रगुप्त की चाणक्य नीति, अशोक की दिग्विजय और इधर आकर तैमूर लङ्ग, चंगेजखाँ, नादिर शाह आदि के क़त्लेआम—क्या तुम्हारी भूख और मेरे अत्याचार से खाली थे? उसी के साथ राजपूतों की वीरता, औरङ्गजेब की औरङ्गजेबी, अकबर, नासिरुद्दीन आदि की प्रजावत्सलता—मराठों के शासन, इस्ट-इण्डिय-कम्पनी की दोधारी नीति क्या ऐसी थीं, जहाँ हम तुम नहीं थे? यह बात दूसरी है कि, मैं कभी तुम्हारी जगह पर और तुम कभी मेरी जगह पर आसीन हो जाओ। पर रिक्तता और सम्पूर्णता, सुख और दुःख, भूख और अभूख के अस्तित्व तो सदैव से हैं और अन्त तक रहेंगे जी! पात्र के परिवर्तन या कमी और वेसी के प्रश्न इस बात के प्रमाण नहीं कि भूखे और पेटभरे किसी विशेष समय में नहीं थे। किसी विशेष समय में यदि भूखों की संख्या कम थी, तो उस समय भूखे थे ही नहीं भला यह कैसे माना जा सकता है। उसी तरह जब मैं तुम्हारी जगह पर हो जाऊँ और तुम मेरी जगह विराजमान होकर—पेटभरा होकर, मुझ भूखे के ऊपर शासन करने

लगो, तब भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि भूख अभूख का प्रश्न ही मिट गया। क्योंकि उस समय भूख तुम्हारे पेट से निकलकर मेरे पेट में जलने लगेगी। फिर उसका अभाव कहाँ ? इसी से तो कह रहा था न कि तुम भूखे हो तो अपने कर्म से। हम तुम दो में से ही किसी एक को तो भूखे रहना है। तुम अपनी पारी पर आज भूखे हो, सम्भव है अपने कर्म्मों के फल से मैं कल, दूसरे जन्म में तुम्हारी जगह पर हो जाऊँ। सुख-दुःख, भूख-अभूख जब सृष्टि के अटल नियम हैं, और पृथ्वी पर हम तुम दो ही उसके भोगनेवाले हैं तब हम और तुममें से किसी न किसी एक को अपने कर्मानुसार सदा इसे भोगते रहना ही पड़ेगा। यह भला कैसे सम्भव हो सकता है कि हम तुम दोनों शुभ कर्म के ही कर्त्ता सदा साबित होते जायँ—और संसार से शुभाशुभ के—भावाभाव के—पाप-पुण्य के—सुख-दुःख के प्रश्न ही उठ जाँय ? सृष्टि में अनुकूल और प्रतिकूल (positive and negative) दोनों प्रवृत्तियों का, दोनों क्रियाओं का होना नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य्य है। सम्भवतः इसी के आधार पर, जब शब्द का सृजन हुआ, जब कभी भी यह हुआ हो, या न भी हुआ हो, आप ही आप मनुष्योत्पत्ति के साथ-साथ इसे प्रकृति ने मनुष्य को प्रदान किया हो—डार्विन साहेब के विकासवाद का सिद्धान्त ही झूठा हो, तब प्रायः प्रत्येक शब्द के साथ एक विरोधी शब्द उत्पन्न हुआ और प्रत्येक अनुभूति के साथ एक विरोधी अनुभूति का भी सृजन हुआ। सुख के साथ दुःख—आनन्द के साथ शोक—पूर्णता के साथ रिक्तता—सत्य के साथ असत्य—पुण्य के साथ

समय में भी तुम्हारी भूख का नितान्त अभाव हो पाया था ? नहीं, कभी नहीं। इनके तो जन्म केवल अति को नष्ट करके उसे सम पर लाने के लिए थे। जब-जब अति की पराकाष्ठा हो जाती है—हमारे तुम्हारे कर्म जब-जब उन्मत्त हो अति की ओर चल पड़ते हैं तब-तब महाचेतन का अंशभूत एक महात्मा मानव-देह में जन्म लेकर अति को जिस रूप से आवश्यक समझता है उसी रूप से नष्ट करके मनुज जाति को समपथ की राह पर हाँक देता है। चाहे वह हिंसा की अति हो या अहिंसा की, धर्म की अति हो या अधर्म की, किसी भी अति को प्रकृति सहन नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं हिंसा अहिंसा दोनों के निश्चित सिद्धान्त पर चलती है, उसका नियम ही दो विरोधी के समन्वय का—सम का—बीच का, नियम है। इसी में उसका न्याय है। वह उसी को लेकर अपनी सृष्टि की रचना करती है। और किसी एक के अति के विध्वंस के लिए उस महाचेतनता के बृहद अंश को किसी मनुज देहधारी महात्मा की आत्मा में केन्द्रित करना पड़ता है।

जब क्षत्रियों में हिंसा की अतिशयता हुई तो महावीर और बुद्ध ने जन्म लिये और जब उसी बुद्ध कथित अहिंसा में अतिशयता और अनाचार उत्पन्न हो गये तो शंकर का अवतार हुआ। और तब हिंसा नवजात क्षत्रियों के खड्ग में फिर धर्म बन गई। हिंसा अहिंसा का समन्वय रूप शैव धर्म चला। आज जो तुम अहिंसा अहिंसा चिल्ला चिल्लाकर, अपने पीठ में सटे पेट को दिखा दिखा कर मुझको—मुझ पेटभरों को इस पृथ्वी-तल से उठा देना चाहते हो—अपनी भूख की ज्वाला में जलाकर सदा के लिये भस्मीभूत कर देना चाहते हो—यह भला कैसे सम्भव हो सकता

कम से कम दिग्विजयी बलशाली राजे-महाराजे तो इसे अवश्य पूरा किये रहते या प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र, या साम्यवाद ही इसको सम्भव करके दिखाये होते—जिनका राज्य ही लोक का राज्य है, जिनका धर्म्म ही सेना के बल साम्य स्थापन करने का धर्म्म है ? पर वहाँ भी तो वही एकाधिपत्य, वही पेटभरों का—दिमागी धनिकों का बोलवाला है भूखे ? तुम व्यग्र क्यों हो रहे हो ? कह तो दिया कि प्रकृति का नियम ही किसी न किसी रूप में एकाधिपत्य का नियम है। उसकी व्यवस्था में योग्य बली के—योग्य साहसी के अपने कर्मानुसार जीने का पूर्ण प्रबन्ध है और अयोग्य निर्बल का—अयोग्य और साहसहीन व्यक्ति का मर जाने या मरना नहीं तो नरक यातना को अपने कर्म के अनुरूप भोगते रहने का आदेश है। पर प्रकृति अन्यायी नहीं। उसके नियम अटल हैं। उनसे हटकर, उनमें व्यभिचार उत्पन्न करके कोई ठहर नहीं सकता। यदि योग्य भी उन पवित्र नियमों में व्यभिचार उत्पन्न करेगा तो वह भी नष्ट हो जायगा। यदि योग्य तुम्हारा भक्षक बनेगा तो उसको भी प्रकृति एक-न-एक दिन भक्षण कर जायगी और फिर तुम्हीं भक्ष्य को उसका भक्षक बना देगी। जो लड़-भिड़ कर, योग्य बनकर अपने को जीवित रखेगा वह तो जीवित रहेगा नहीं तो उसका निर्बल भक्ष्य ही उसको खा जायगा। पर मनुज प्राणी इन बातों को न समझकर भी आज इतना उन्मत्त है कि वह अपना राज्य प्रकृति के राज्य पर शीघ्र से शीघ्र स्थापित कर देना चाहता है। पर अपने बुद्धिवाद के क्षणिक विकास के बल पर क्या इस महत्वाकांक्षा में वह सफल होगा ? कदापि नहीं वह अपने दर्प के कारण, अपने भ्रम और अहं के होते, स्वार्थान्धता में शायद

पागल होकर अपने विनाश का आयोजन आज स्वतः कर रहा है। जभी उसके व्यभिचार अति की सीमा का उलंघन कर चुकेंगे तभी उसका पतन प्रारम्भ हो जायगा।

हाँ तो भूखे! बताओ तो तुम्हारा दयालु ने तो तुम्हारी भूख को देखकर क्या अपनी आन्तरिक दया के भाव से ही प्रेरित होकर तुम्हारे ऊपर दया दिखाता है या किसी दूसरे स्वार्थ की प्रेरणा से यह ढोंगी प्रदर्शन करता है? इतना वर्ताव का सामर्थ तुममें है? नहीं जी, तुम इस प्रपञ्च को क्या जानो ? तुम्हारी ऐसी योग्यता कहाँ कि इस नीति को समझ पाओ! तुम तो भूखे ठहरे। तुमको जिस किसी ने कहा कि भूख की दवा यह है तुम उसी को पाने के लिये उसके पीछे विना समझे-बूझे दौड़ पड़े और दो ही ग्रास पाकर सन्तुष्ट हो गये। तुम आरत हो—

'आरत के हिय रहै न चेतू, पुनि-पुनि कहै आपनो हेतू!'

इसलिये तुम्हारी बुद्धि भी मारी गयी है। पर यदि तुम वास्तव में भूखे हो और मैं तुम्हरा भक्षक हूँ तो एक दिन तुम्हारी भूख तो मेरी आतों में आ जायगी, और मेरी सम्पूर्णता तुम्हारे पेट में जा बैठेगी—तुम्हारी रिक्तता का हमारी सम्पूर्णता से अदल-बदल हो जायगा और हम तुम दोनों रिक्तता और पूर्णता का मजा बारी-बारी चख लेंगे। किन्तु मनुज प्राणी का आज इस भूख को संसार से नितान्त उठा देने का प्रयास सुन्दर होते हुए भी कैसा हास्यास्पद और असम्भव है भूखे! रिक्तता और पूर्णता मानव जीवन के दो अङ्ग हैं—सापेक्ष शब्द हैं, एक के अभाव में दूसरे का रहना अनिवार्य्य है। भूख और अभूख दोनों मिलकर ही जीवन को सार्थक, सुखद, और सरस बना सकते हैं।

साम्यवाद की भूल

आज संसार की व्यग्रता केवल क्षणिक शारीरिक सुख के लिए उसे कहाँ से कहाँ लिये जा रही है यह जड़वादी संसार को स्वतः ज्ञात नहीं, वह अपने अतीत पापों की अतिशयता में बुद्धिभ्रष्ट होकर अपने वास्तविक हित की बातों को नहीं सुनना चाहता। आज जड़वाद का जमाना है, जड़वाद का विकास सृष्टि के विनाश और युग परिवर्तन के लिए हुआ करता है। सभ्यता के इतिहास का यही अनुभव है। जड़ में आत्मा की प्रधानता कहाँ है? और आत्मा-रहित समाज विनाश को शीघ्र प्राप्त होता है। रजोगुण की प्रधानता यदि सतोगुण के लिये न हो तो तमोगुण का आविर्भाव अवश्यम्भावी है। स्वामी दयानन्दजी का कहना है कि रजोगुण की उत्पत्ति भारतवर्ष के लिये आज आवश्यक है—उसके बाद तो सतोगुण आ ही जायगा, आधार-हीन है। राजस प्रवृत्ति यदि सत् प्रवृत्ति से रहित होगी तो वह सत् की ओर न जाकर तामस की ओर ही जायगी। जैसा कि आज यूरोप में हो रहा है। आज प्रजातन्त्र का नाम लेकर विज्ञान की प्रधानता में संसार ने शरीर ही को जीवन मान लिया है। इसलिये क्षुद्र स्वार्थ के हेतु संघर्ष और कलह उसके कर्तव्य बन गये हैं। ईर्ष्या, द्वेष, कपट और असत्य उसके राजकीय नियमों के आदर्श हो रहे हैं। माना कि, ज़ार के अत्याचार ने रूस की जनता के हृदय में प्रतिहिंसा के भाव जाग्रत कर दिये पर प्रतिहिंसा ने सफल होते समय उन्हीं नियमों का अनुसरण किया जिनकी सहायता से ज़ार के अत्याचार, कपट और धाँधली चालू थीं। पर उन नियमों के साधन से क्रान्ति की सफलता

और ज़ार के निर्मूल विनाश का यह मानी नहीं है कि वे ही धाँधली, अत्याचार, हिंसा, कपट और असत्य के आधारभूत चाणक्यकीय नियम साम्यवाद को चिरजीवी और सफल बना सकेंगे। उस क्रान्ति की सफलता के कारण ये कपट-पूर्ण व्यवहार न थे, बल्कि एकमात्र वह सत्य था जिसने ज़ार के अन्याय के प्रति क्रान्ति करने को जनता को उभाड़ा। और ये अत्याचार तो जनता के विजयोल्लास—प्रभुत्व की प्रतिहिंसा के प्रतिफल मात्र थे। ज़ार के अन्त और साम्यवाद के जन्म के साथ ही समता की जैसी रूप-रेखा रूस में खड़ी हुई उसके पीछे तुम भूखे अंधे बन गये। तुमने उसको संसार के दुःखनिवारण का एक मात्र महौषधि माना। किन्तु लेनिन के सन्देश और त्याग को उसके अनुयायियों ने भुला दिया। साम्यवाद की मूल्य शक्ति सरकार है—सरकार की बागडोर हाथ में लेकर ही साम्यवाद जन-सेवा कर सकता है। और सरकार की शक्ति प्राप्ति के लिए उसके पास एक मात्र उपाय सत्य असत्य का विचार छोड़कर येनकेन-प्रकारेण शत्रु के प्रतिकूल प्रचार करना है। पर ये बातें युग-युग के महात्माओं के अनुभव के प्रतिकूल हैं। महात्मा इन आयुधों से अपनी सत्यकामना की विजय नहीं चाहता। उसके पास तो एक मात्र अस्त्र सत्य, प्रेम, और त्याग हैं जिनसे लेनिन की आत्मा ओत-प्रोत थी और इसी से प्रभावित होकर लेनिन को बहुतों ने दुनिया का सबसे बड़ा अपने समय का धार्मिक व्यक्ति कहा हैं। लेकिन लेनिन की मृत्यु के बाद ही साम्यवाद की व्याख्या बदल गई—उसका बाह्य रूप ही तुम भूखों के सामने रखा गया—जिससे तुम ज्ञान और विवेक के अभाव में आनन्द

के मारे फूल उठे। साम्य सरकार ने कहा—जैसे सामाजिक जीवन के उपभोग में साम्य लाया जायगा वैसे ही जन-साधारण के बुद्धि-विकास में भी समता लाने का प्रयत्न किया जायगा। एक क्यों अपने विकसित बुद्धि का नफा उठाकर हजारों का भोग भोगेगा। इसलिये सबों की बुद्धि एक समान रखी जाय कि मानव प्राणी के जीवन के उपभोग की समता पूर्ण रूप से सार्थक हो। ये सब प्रारम्भिक बातें तुम भूखों को खूब जचीं। लेकिन भूखे! धीरे-धीरे उनकी कलई खुलती गई। प्रकृति तो अति को सम पर लाकर शासन करने के अपने नियम में मनुष्य के हस्तक्षेप को कभी सहन नहीं कर सकती। उसका राज्य तो साम्य और विषमता का राज्य है; बाह्य विषमता और अन्तर साम्य, बस इतना-सा उसका नियम है—वह भला कब अपने इस कल्याणकारी शासन में स्वार्थी मनुष्यों का हस्तक्षेप सहन कर सकती है? वे ही प्रति-हिंसा और असत्य तथा कपट की भावनाएँ, जिन्होंने अत्याचारी ज़ार का सर्वनाश किया था, आज अपनी ही ओर घूस पड़ी। वे सब अपनी पार्टीबन्दी में शुरू हुईं और ट्रॉटस्की, लेनिन की धर्मपत्नी तथा उनके अनेक साथी वीर स्टेलिन दल के कठोर पार्टी कानून के शिकार बने। आज भी रूस का साम्यवाद इसी आधार पर चालू है। और एक दिन ऐसा समय आवेगा कि जब संसार स्टेलिन के साम्यवादी सरकार को राज्यवादी देशों का साथ इसलिये करते देखकर हँसेगा, कि उसके साथ से उसके क्षुद्र स्वार्थों का—सिद्धान्त का नहीं, हित था। माना कि मशीन से धन धान्य की वृद्धि हो रही है—अमन-चैन बना है—ऐश वो

आराम, विषय और वासना की वृद्धि हो रही है—सामूहिक सहयोग से खाना-पीना, रहन-सहन सब सामूहिक रूप से चल रहे हैं, परन्तु ये सब कार्यक्रम और ये सब जड़वाद के विकास, जो जनता में कानून के बल से समानता स्थापित किये हुए हैं, क्या वहाँ की जनता के व्यक्तिगत आन्तरिक जीवन को भी सुखी और स्वतन्त्र तथा लोकप्रिय बनाये हुए है ? इसमें शंका है। यदि तुम रूस के उन खेतों पर जाओ जहाँ सरकार की पञ्चवर्षीय सामूहिक खेती की योजनाएँ हैं, तो तुमको इसकी वास्तविकता पूर्ण रूप से ज्ञात हो जायगी। यह कभी सम्भव नहीं कि स्वभाव से ही स्वतन्त्रता का प्रेमी मनुष्य जाति अपने इच्छानुकूल अपने खाने, पहनने और उठने-बैठने तथा काम करने तक की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सरकार को सौंप करके आप केवल सरकार द्वारा निर्धारित भोजन और ऐश-आराम तथा आमोद-प्रमोद को भोगकर अपने आन्तरिक सच्चे सुख को प्राप्त करेगा ? क्या यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं है—सोवियट सरकार द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता की चोरी नहीं है ? वन का कीर स्वर्ण-पिञ्जर में नाना तरह के स्वादिष्ट भोज्य खाकर भी जब सुख अनुभव नहीं करता, तब भूखे ! तुम मनुष्य होकर कैसे इस परतन्त्रता को स्वीकार कर सकते हो ? साम्यवाद के सिद्धान्त का निर्माण प्रकृति के आन्तरिक नियम की अनुकूलता पर नहीं हुआ है। उसमें महत्वाकांक्षा अवश्य है पर व्यवस्था के केन्द्रीय सिद्धान्त में भूल है। जिससे इसके प्रतिकूल प्रकृति के जाने की सम्भावना पग-पग पर बनी रहती है। प्रकृति अपने शासन में कोई भी प्रतिकूल हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकती। उसके राज्य में वही विधान, वही

शासन-पद्धति तथा समाज-योजना अधिक दिनों तक चल सकती है, जो उसके शासन के आन्तरिक सिद्धान्त के अनुकूल चलायी गयी हो। प्रकृति का शासन अन्तर साम्य और वाह्य असाम्य का शासन है; यह तुम पहले सुन चुके हो। तुम नित्य प्रकृति के वाह्य विभेद को देखते हो। कोई भी उसकी दो चीजें शरीर रूप में साम्य नहीं। लेकिन उनका आन्तरिक रूप—आन्तरिक अनुभूति—एक जाति के प्राणी की ही नहीं, वल्कि अन्य जातीय प्राणी की भी आन्तरिक अनुभूति में—भीतरी साम्यता है। कतिपय ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो हर प्राणी में एक ही समान अनुभूत होती हैं। और इसी आन्तरिक साम्य और वाह्य असाम्य के सिद्धान्त के निरीक्षण के वाद ही इन सिद्धान्तों के आधारभूत हिन्दू-शास्त्र, हिन्दू-संस्कृति और गीता के ज्ञान निर्धारित हुए थे जो व्यभिचार को प्राप्त होकर भी अपने असली रूप में आज भी अकाट्य हैं।

तो भूखा! तुम यदि यह चाहो कि साम्यवाद की डफली पीटकर तुम मेरा नाश और अपना निर्माण कर लोगे तो यह तुम्हाराभ्रम मात्र है। समय आने पर तुम स्वयं इसे समझने लगोगे। भले ही आज तुम इसे न मानो—भले ही साम्यवाद की चमक से चौंधिआई हुई आँखों से तुमको आज मेरी बातों की तथ्यता न दिखाई पड़े, किन्तु भूखे! वह दिन दूर नहीं जव तुम स्वयं मेरी भविष्यवाणी को कार्य में परिणत होते देख लोगे। यदि तुम सच्चे हो—यदि तुम अपने हृदय की अनुभूतियों को समझने की कुछ भी योग्यता रखते हो तो तुम या सोवियट रूस का कोई भी ग्रामीण मजदूर आज भी अपने हृदय के दूरतम कोने में मेरी कही हुई इन वातों की तथ्यता को—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के

अपहरण की भावना को कंडे में छिपी हुई अग्नि की तरह सुलगती हुई अनुभव कर सकता है।

परन्तु तुम तो अनुभवहीन ठहरे। तुम्हारी भूख ने तुम्हारे अनुभव और मनन शक्ति का अपहरण कर लिया है। तुम इनको अनुभव करो तो कैसे करो? रूसी मज़दूर भले अनुभव करके इसे समझ लें पर तुम भारतीय मजदूर को इसे समझने और अनुभव करने का अवकाश या लगन कहाँ?

और भूखे! मेरे धन यदि राशि की राशि में मेरे पास न जमा होते—यदि व्यवसाय का नियम चालू करके, विनिमय का नियम निकाल कर, अर्थ-शास्त्र का आविष्कार करके मैं तुम्हारा समाज न चलाया होता तो मानव जाति की यह सामूहिक उन्नति क्या कभी सम्भव थी? अच्छी से अच्छी योजना को, अच्छे से अच्छा सिद्धान्त और आविष्कार को, मानव प्राणी के उपभोग की वस्तु बनाने के लिये रुपये की आवश्यकता पड़ती है। और जाने दो, तुम्हारे बहुप्रशंसित साम्यवाद की बुनियाद ही सरकार की शक्ति की प्राप्ति के साथ प्रारम्भ होती है। उसकी सारी योजना, सारी स्कीमें तभी प्रारम्भ होती हैं जब सरकार की शक्ति उसके हाथ में आती है। और सरकार की शक्ति का हाथ में होने का मतलब है देश के धन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का सिद्धान्त।

पूँजीवाद

तो भूखे! यह धन संग्रह का आविष्कार मानव प्राणी के उन आविष्कारों में से एक है जो उसे उन्नतिशील होने में सहायक

हुए हैं। मानव प्राणी समाज और व्यवस्थाप्रिय जीव है। उसका स्वाभाविक रूप और स्वभाव आदि काल में चाहे जो रहा हो, यह इतिहासकारों के झगड़े की वस्तु है, तथा स्वप्नवादियों के, भूत-प्रेमियों के, भूत की बातों पर प्रसन्न होने के चोचले हैं, ठोस सत्य तो आज ही नहीं, जब से हमारे ज्ञान के प्रारम्भ का इतिहास है तब से ही यही है कि मनुष्य समाज, व्यवस्था और प्रधान जीव है और उसकी समाज-व्यवस्था मुद्रा पर—धन पर—चालू है। मानव प्राणी को समाज में निबद्ध रखने की शक्ति केवल इस मुद्रा में ही है। मुद्रा को नीतिकार ने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को देनेवाली जो कहा था वह असत्य नहीं कहा था। यह केवल तुम्हारे नित्य के काम को चालू ही नहीं रखती, बल्कि यह एक ऐसी वस्तु है जिसके जरिये से मानव जाति एक सूत्र में बँध जाती है। यद्यपि इसका हमने आविष्कार किया परन्तु आविष्कार इतना पुराना है कि इसने हम तुम दोनो को अपने अनुकूल ऐसा बना लिया है कि हम तुम उससे रिक्त होकर अब रह ही नहीं सकते। नीतिकार के सामने समाज-निर्माण के समय में यह प्रश्न उठा कि शासन और समाज के लिये एक ऐसी वस्तु का आविष्कार आवश्यक है जिसकी सहायता से संसार की सभी चीजें लभ्य हों और जिसकी आवश्यकता हर व्यक्ति को अनुभूत करनी पड़े। और जब उस वस्तु की आवश्यकता की अनुभूति हर समाज के हर व्यक्ति के हृदय में वर्तमान रहेगी तभी हर व्यक्ति समाज के सामूहिक-जीवन में संलग्न होकर उसके शासन को मानने पर बाध्य होगा। इसी से उसने धन का आविष्कार किया। धन ही को हर सुविधा की वस्तु को प्राप्त करने का साधन बनाया। और

फिर जब एक बार वह मनुष्य जाति के हर प्राणी के हृदय में मुद्रा की श्रेष्ठता और उसकी प्राप्ति का लोभ भर दिया तब यह सम्भव कहाँ कि फिर उसका शासन ढीला पड़े। एक न एक रूप में यह तब से आज तक चालू है और इसी धन की रक्षा के लिये सरकार का भी जन्म हुआ।

फिर तुम धन के आविष्कार को जो गाली देते हो यह कहाँ तक उचित और न्याय-संगत है भूखे! तुम भी धनी बनो—मन के धनी—हृदय के धनी—ज्ञान के धनी—धर्म और सद्भावनाओं तथा प्रेम और सत्य के धनी बनो, भूखे! और तब मेरे धन का बटवारा करा लो या तब बटवारे की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी स्वयं ही तुम धनी हो जाओगे, मेरे धन से तुम जलकर कदापि धनी नहीं बन सकते। जानते नहीं द्वेष बुरी वस्तु है—यह उन्नति को रोकती है। साथ ही ईर्ष्या अच्छी वस्तु है यह उन्नति को लाती है। तो भूखे! तुम द्वेष न करो यह तुम्हें भूखा रखेगा। तुम मेरी सद्भावनाओं की ईर्ष्या करो यह तुम्हारी भूख को मिटायेगी। मैं तब तक भूखा नहीं बनूँगा भूखे! जब तक मैं हृदय का धनी, सद्भावनाओं का धनी, मन और सदाचार का धनी बना रहूँगा; जब तक मैं प्रेम और सत्य तथा न्याय का अर्थ समझता रहूँगा—मेरा धन जब तक तुम्हारी भलाई के लिये व्यय होता रहेगा तथा जब तक मानव सभ्यता के विकास में वह सहायक बना रहेगा; जब तक जन-हित की सामूहिक योजना को मेरा धन आगे बढ़ाता रहेगा तब तक मैं निर्धन कदापि नहीं बनूँगा भूखे! तुम्हारा द्वेष मुझे मेरे स्वत्व से वञ्चित नहीं कर सकेगा। तुम हमारे साथी बन सकते हो—नित्य बनते भी हो—हमारे ही

हुए हैं। मानव प्राणी समाज और व्यवस्थाप्रिय जीव है। उसका स्वाभाविक रूप और स्वभाव आदि काल में चाहे जो रहा हो, यह इतिहासकारों के झगड़े की वस्तु है, तथा स्वप्नवादियों के, भूत-प्रेमियों के, भूत की बातों पर प्रसन्न होने के चोचले हैं, ठोस सत्य तो आज ही नहीं, जब से हमारे ज्ञान के प्रारम्भ का इतिहास है तब से ही यही है कि मनुष्य समाज, व्यवस्था और प्रधान जीव है और उसकी समाज-व्यवस्था मुद्रा पर—धन पर—चालू है। मानव प्राणी को समाज में निबद्ध रखने की शक्ति केवल इस मुद्रा में ही है। मुद्रा को नीतिकार ने अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को देनेवाली जो कहा था वह असत्य नहीं कहा था। यह केवल तुम्हारे नित्य के काम को चालू ही नहीं रखती, बल्कि यह एक ऐसी वस्तु है जिसके जरिये से मानव जाति एक सूत्र में बँध जाती है। यद्यपि इसका हमने आविष्कार किया परन्तु आविष्कार इतना पुराना है कि इसने हम तुम दोनो को अपने अनुकूल ऐसा बना लिया है कि हम तुम उससे रिक्त होकर अब रह ही नहीं सकते। नीतिकार के सामने समाज-निर्माण के समय में यह प्रश्न उठा कि शासन और समाज के लिये एक ऐसी वस्तु का आविष्कार आवश्यक है जिसकी सहायता से संसार की सभी चीजें लभ्य हों और जिसकी आवश्यकता हर व्यक्ति को अनुभूत करनी पड़े। और जब उस वस्तु की आवश्यकता की अनुभूति हर समाज के हर व्यक्ति के हृदय में वर्तमान रहेगी तभी हर व्यक्ति समाज के सामूहिक-जीवन में संलग्न होकर उसके शासन को मानने पर बाध्य होगा। इसी से उसने धन का आविष्कार किया। धन ही को हर सुविधा की वस्तु को प्राप्त करने का साधन बनाया। और

फिर जब एक बार वह मनुष्य जाति के हर प्राणी के हृदय में मुद्रा की श्रेष्ठता और उसकी प्राप्ति का लोभ भर दिया तब यह सम्भव कहाँ कि फिर उसका शासन ढीला पड़े। एक न एक रूप में यह तब से आज तक चालू है और इसी धन की रक्षा के लिये सरकार का भी जन्म हुआ।

फिर तुम धन के आविष्कार को जो गाली देते हो यह कहाँ तक उचित और न्याय-संगत है भूखे! तुम भी धनी बनो—मन के धनी—हृदय के धनी—ज्ञान के धनी—धर्म और सद्भावनाओं तथा प्रेम और सत्य के धनी बनो, भूखे! और तब मेरे धन का बटवारा करा लो या तब बटवारे की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी स्वयं ही तुम धनी हो जाओगे, मेरे धन से तुम जलकर कदापि धनी नहीं बन सकते। जानते नहीं द्वेष बुरी वस्तु है—यह उन्नति को रोकती है। साथ ही ईर्ष्या अच्छी वस्तु है यह उन्नति को लाती है। तो भूखे! तुम द्वेष न करो यह तुम्हें भूखा रखेगा। तुम मेरी सद्भावनाओं की ईर्ष्या करो यह तुम्हारी भूख को मिटायेगी। मैं तब तक भूखा नहीं बनूँगा भूखे! जब तक मैं हृदय का धनी, सद्भावनाओं का धनी, मन और सदाचार का धनी बना रहूँगा; जब तक मैं प्रेम और सत्य तथा न्याय का अर्थ समझता रहूँगा—मेरा धन जब तक तुम्हारी भलाई के लिये व्यय होता रहेगा तथा जब तक मानव सभ्यता के विकास में वह सहायक बना रहेगा; जब तक जन-हित की सामूहिक योजना को मेरा धन आगे बढ़ाता रहेगा तब तक मैं निर्धन कदापि नहीं बनूँगा भूखे! तुम्हारा द्वेष मुझे मेरे स्वत्व से वञ्चित नहीं कर सकेगा। तुम हमारे साथी बन सकते हो—नित्य बनते भी हो—हमारे ही

गुणों के अनुसरण से तुम में से अनेक नित्य धनी बनते जाते हो। और हम में से भी बहुत तुम्हारे अवगुणों के अनुसरण से ही तुम ऐसे भूखे बने हैं और बनते चले जाते हैं; लेकिन हम और तुम सदा से रहे हैं और सदा रहेंगे। समाज व्यवस्थापक ने अपने युग-युग के अनुभव से, प्रकृति के नियम के निरीक्षण से जो बुरा और भला का मानदण्ड बना दिया है, जो सुख दुःख का—भूख-अभूख का नियम—प्रकृति के सिद्धान्तानुसार चालू कर दिया है वह मानदण्ड वह नियम सदा जीवित रहेगा। हम तुम दोनो रहेंगे—हम तुम दोनों को उसी प्रतिद्वन्द्विता में काम करके, अपने को योग्य अयोग्य बनाकर, धनी और निर्धन तथा भूखा और पेटभरा बनाना होगा, भूखे! न मैं पेटभरा हूँ और न तुम भूखे। हमारे और तुम्हारे कर्मों ने ही हमें तुम्हें ऐसा बना डाला है। आज मैं अपने कर्मों से च्युत हो जाऊँ बस, मैं तुम्हारी जगह पर आ पहुँचूँगा। और तुम अपने कर्मों को सुधार लो बस, तुम मेरी जगह पर आसीन हो जाओगे भूखे! तुम अपने पेट की जलन में जलकर निरर्थक मुझे दोष दिया करते हो—मेरी करतूतों से तुम भूखे नहीं बने भूखे! और न मैं तुम्हारी वजह से पेट भरा बना। मेरे पेट भरे और तुम्हारे भूखे रहने के कारण कुछ दूसरे हैं, जो हम में और तुम में वर्तमान हैं भूखे! हमारे तुम्हारे पेट एक समान हैं—दोनों के स्वभाव एक समान हैं—दोनों की रिक्तता एक ही वस्तु से पूरित हो सकती है—फिर हम में तुम में भेद कैसा? तुम निरर्थक मुझे दूसरा समझते हो! हमने अच्छी विधि से अपने पेट भरने का प्रयत्न किया और तुमने बुरे तरीके से उसकी पूर्ति करनी चाही। बस तुम पूर्ति न कर

सकने की अवस्था में भूखे बन गये और हम पूर्ति कर सकने की अवस्था में पेटभरे बन गये। बस अन्तर हमारे तुम्हारे कर्म के भेद का है न कि भूख का भूखे! आवो हम तुम मिलते जायँ। क्या हम तुम भिन्न—वाह्य भिन्न होकर भी अन्तःसाम्य नहीं हो सकते ?

दिलीपपुर

५-९-३८